

जाति के विरोध में कम्युनिस्ट

भूमिका

क्रांति के ज़रिए शोषण विहीन समाज के लिए लड़ने और इसे साकार बनाने के लिए प्रतिबद्ध, एक कम्युनिस्ट पार्टी के तौर पर सीपीआई(एम) का कर्तव्य है कि वह जिस समाज को बदलना चाहती है, उसमें मौजूद सभी शोषणों से लोहा ले। जहां वर्गीय शोषण के खिलाफ़ लड़ाई को प्राथमिकता दी जानी चाहिए वहीं जनता की जनवादी क्रांति का संग्राम तब तक जीता नहीं जा सकता है, जब तक इस लड़ाई को विभिन्न सामाजिक उत्पीड़नों, जिनमें सबसे प्रमुख जाति है, के खिलाफ़ लड़ाई के साथ जोड़ा नहीं जाता। जाति व्यवस्था तथा इसके अन्तर्गत जो कुछ भी आता है, वह भारत में शोषण का एक प्रमुख हथियार है। इसी बात से क्रांतिकारी बदलाव के संघर्ष के अभिन्न अंग के तौर पर इसके खिलाफ़ लड़ने की ज़रूरत पनपती है।

जाति, एक ऐसी परिघटना है जो केवल भारतीय उपमहाद्वीप में ही देखने को मिलती है। उप-जातियों के फैलाव तथा विभिन्न क्षेत्रों में ठोस स्वरूप और विशिष्टाओं में विविधता के साथ इसकी कई जटिलताएं हैं। यह स्थिर नहीं रही है तथा कई बदलावों से गुज़री है, जो कि आज भी जारी हैं। पर, सदियों से तथा सभी क्षेत्रों में इसकी सारवस्तु एक ही रही है— यानिकि वर्गीय शोषण तथा सामाजिक व लैंगिक उत्पीड़न को बढ़ाने का हथियार। यह दुनिया के सबसे क्रूर उत्पीड़क व्यवस्थाओं में से एक है। यह उत्पीड़ित निचली जातियों को रोज़मर्रा के तिरस्कार और अपमान का पात्र बनाती है। यह सभी जातियों की महिलाओं को निम्न दर्जे पर धकेलती

है। उत्पीड़ित जातियों की महिलाओं को हालांकि बलात्कार समेत सबसे अमानवीय बर्बरताओं का सामना करना पड़ता है। कम्युनिस्ट होते हुए एक न्यायसंगत व मानवीय दुनिया के लिए लड़ने वालों के तौर पर हम इस शोषणकारी तथा उत्पीड़क व्यवस्था से उद्वेलित हुए बिना रह नहीं सकते हैं।

कोई भी शासक वर्ग केवल पाश्विक ताकत के बूते ही राज नहीं कर सकता है, उसे बहुमत की चेतना पर भी राज करना होगा। सदियों से, सबसे बढ़कर जाति व्यवस्था ने भारतीय शासक वर्गों को अपना वैचारिक वर्चस्व बनाए रखने के लिए यह हथियार मुहैया कराया है। यही वह कारण है कि शासक आए और गए, पर इनमें से किसी ने भी जाति व्यवस्था पर निर्णायक चोट नहीं की— उलट इसके मध्ययुगीन और औपनिवेशिक शासक वर्गों तथा स्वतंत्र भारत के पूंजीपति—भूस्वामी शासक वर्गों समेत इनमें से सभी ने जाति व्यवस्था का इस्तेमाल जनता को विभाजित करने और उनकी वर्गीय चेतना को कुन्द करने के लिए किया है। जाति के खिलाफ संघर्ष, वर्गीय शोषण के खिलाफ लड़ाई से जुड़ा हुआ है। इसके साथ ही, वर्गीय शोषण के खिलाफ लड़ाई के लिए ज़रूरी मज़दूर वर्ग और मेहनतकशों की एकता भी जाति के खिलाफ लड़े बिना संभव नहीं है। इसलिए जाति का प्रश्न मज़दूर वर्ग के आंदोलन के लिए सीधी चिंता का विषय है। जाति के शोषणकारी तथा विभाजनकारी चरित्र और वर्गीय चेतना को कुन्द करने में इसकी भूमिका को केवल समाज के क्रांतिकारी रूपांतरण की लड़ाई को खतरे में डालने की कीमत पर ही नज़रअंदाज किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो जाति व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई केवल तात्कालिक कार्यनीति का मसला नहीं है, बल्कि इसके रणनीतिक निहितार्थ भी हैं।

जाति: एक ऐतिहासिक परिदृश्य

जाति की उत्पत्ति

आर्य सभ्यता से पहले की सिंधु घाटी सभ्यता में जहां वर्ग मौजूद थे, वहीं उसमें जाति की मौजूदगी के कोई सबूत नहीं मिलते। जाति की उत्पत्ति भारत में आर्य सभ्यता के उद्भव तथा विकास से जुड़ी हुई है। यह क्रम 1750 ईसा पूर्व (ई.पू.) के करीब आर्यों के भारत में आगमन के साथ शुरू होता है।

1750 से 1000 ई.पू. की अवधि को ऋग्वैदिक काल के तौर पर जाना जाता है, यानिकि वह दौर जब ऋग्वेद की रचना हुई थी। इस दौर का समाज कबाईली तथा मुख्य तौर पर चरवाही पर आधारित था, हालांकि खेती के बारे में पता था और यह प्रचलन में भी थी।

ऋग्वैदिक समाज में सीमित सामाजिक अधिशेष के चलते समता के मज़बूत चिह्न मौजूद थे। लेकिन श्रम के विभाजन, विशिष्टिकरण तथा मज़बूत होती पितृसत्ता के चलते धीरे-धीरे इसमें विभेदीकरण होना शुरू हुआ। कुछ लोगों ने पूरे समुदाय को प्रभावित करने वाली प्रकृति को समझने में विशेषज्ञता हासिल करनी शुरू कर दी। ऐसे समाजों में देवता प्रकृति के विभिन्न अंगों को परिलक्षित करते थे। इस तरह ऋग्वैदिक समाज में भी बारिश और बिजली के देवता, इंद्र तथा सूर्य, वायु, वरुण, अग्नि आदि देवता विभिन्न प्राकृतिक पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते थे। उर्वरता की प्रतिनिधि के तौर पर मातृ देवी की उपासना का भी प्रचलन था। धीरे-धीरे, उपरोक्त विशेषज्ञ उत्पादन की प्रक्रिया से अलग होते गए और कबीले में उनकी अलग पहचान बन गई।

उत्पादन के निम्न स्तर को देखते हुए विभिन्न कबीलों में लड़ाई आम थी। हालांकि पूरा कबीला लड़ने उतरता था, वक्त के साथ लड़ने वाले विशेषज्ञ सामने आए, जो कबीले का लड़ाई में नेतृत्व करते थे। कबीले के भीतर इस दो स्तर के विशिष्टिकरण ने गैर-बराबरी के बीज का रूप लिया, जो आगे चलकर स्थिर तथा बड़े सामाजिक अधिशेष वाले कृषि के उत्पादन के मुख्य प्रणाली बनते ही, वर्ग विभाजन के रूप में सामने आ गया।

ऋग्वैदिक समाज तीन वर्णों में बंटा हुआ था— ब्राह्मण या पुरोहित तबका, क्षत्रिय या युद्ध के विशेषज्ञ तथा विस या वैश्य, जो पशु चराने व खेती में लगे हुए कबीले के आम लोग थे। शूद्र वर्ण का उल्लेख केवल ऋग्वेद के आखिरी अध्याय यानिकि 10वें खंड में मिलता है। इस वर्ण में या तो वे थे जिन्हें युद्ध के दौरान दास बना लिया गया था या फिर कबीले के वे लोग जो कंगाली, गुलामी या अर्द्ध-गुलामी की हालत में पहुंच गए थे। इस चरण में वर्ण आद्य-वर्ग के स्वरूप में था, जो कि न तो वंश परंपरा पर आधारित था और न ही सगोत्र विवाह (अपने ही वर्ण के भीतर विवाह करना) पर।

उत्तर वैदिक काल (1000-600 ई.पू.) में आर्यों ने अपना नियंत्रण गंगा की घाटी तक फैला लिया। खेती अब उत्पादन की मुख्य प्रणाली बन गई। इससे स्थिर अधिशेष संभव हो सका, जिससे वर्गीय विभेदीकरण सम्पूर्ण तौर पर सामने आ गया। ऋग्वैदिक दौर के अनुष्ठानों के विशेषज्ञों तथा युद्ध के विशेषज्ञों ने मिलकर (हालांकि दोनों में मनमुटाव रहते थे) किसानों, भूमिहीन अर्द्ध-गुलामों तथा छोटे दुकानदार व व्यापारियों यानि शूद्रों व वैश्यों पर अपना आधिपत्य जमाया। अनुष्ठानों पर नियंत्रण, समाज के अधिकारों व कर्तव्यों की व्याख्या तथा प्राकृतिक परिघटनाओं के अध्ययन के आधार पर खेती के विभिन्न कामों के लिए ज़रूरी समय तथा मौसम चक्र की जानकारी के बूते ब्राह्मण सबसे उच्च वर्ण के रूप में उभरे। धीरे-धीरे श्रम के बढ़ते विभाजन के साथ शुरुआती चतुर्वर्ण व्यवस्था में जाति या उप-जातियों का फैलाव हुआ, जिसमें विभिन्न किस्म के शिल्पकार अलग-अलग जातियों के तौर पर उभरे। जाति अब स्पष्ट और अलग समुदायों की द्योतक हो गई, जिसके सदस्य एक दूसरे से सगोत्र विवाह

तथा काफ़ी हद तक वंश परंपरा पर आधारित पेशे और कर्तव्यों से जुड़े हुए थे।

खेती के उत्पादन की मुख्य प्रणाली के तौर पर उद्भव ने महिलाओं की अंतिम और ऐतिहासिक हार तथा उनकी अधीनता को जन्म दिया। बाकी चीजों के साथ इसका मलतब यह भी हुआ कि विवाह के मामले में उनके पास पहले अपना वर चुनने के जो कुछ अधिकार थे, वो अब छीन लिए गए। इसका इस्तेमाल सगोत्र विवाह की व्यवस्था को मजबूत करने के लिए किया गया, जोकि वर्ण व्यवस्था का एक ज़रूरी आधार था।

आर्थिक व सामाजिक शोषण के औज़ार के रूप में जाति

जिसकी शुरुआत समाज में वर्ग विभाजन के साथ हुई उसके ऊपर जाति ने अपनी एक परत चढ़ा दी— एक ऐसी परिघटना जो कई मौकों में वर्ग के साथ तारतम्य बैठती थी, पर जिसकी खुद की अपनी स्वायत्तता भी थी। इस तरह जहां किसानों व भूमिहीनों के बड़े हिस्सों पर शूद्रों के तौर पर वर्गीकृत किए जाने के साथ ही वर्ग की मार पड़ रही थी, वहीं उसी वर्गीय शोषण की मार झेल रहे किसानों के कुछ हिस्से वैश्य जाति में थे। इसका मतलब था कि एक ही वर्ग में होने के बावजूद शूद्र किसानों को वैश्य किसानों की तुलना में अधिक सामाजिक भेदभाव तथा उत्पीड़न का सामना करना पड़ रहा था।

प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में शूद्रों को निर्मम शोषण तथा उत्पीड़न का सामना करना पड़ा। दूसरी शताब्दी ई.पू. से लेकर दूसरी शताब्दी ईसा बाद के बीच लिखी गयी मनुस्मृति शूद्रों को शिक्षा, सम्पत्ति, हथियार रखने तथा धार्मिक अनुष्ठानों में हिस्सा लेने समेत कोई भी अधिकार नहीं देती थी। इसने घोषणा की, कि अगर कोई शूद्र किसी किस्म की सम्पत्ति अर्जित करता है तो किसी भी ब्राह्मण या क्षत्रिय को उस से वह जबरन छीनने का अधिकार है। शूद्रों को पानी के सार्वजनिक स्रोतों से पानी लेने का अधिकार नहीं था। उन्हें गांव के अलग हिस्से में या कई बार गांव के बाहर रहने पर मजबूर किया जाता था। उनके साथ भोजन व विवाह सामाजिक तौर पर प्रतिबंधित था। इसके साथ ही मंदिरों में उनका

प्रवेश भी वर्जित था। निचली जातियों की महिलाओं को ऊंची जातियों के पुरुषों के हाथों यौन उत्पीड़न का सामना करना पड़ता था। अगर किसी ब्राह्मण पुरुष ने किसी शूद्र महिला के साथ यौन संबंध स्थापित किए तो कानून में इसकी कोई सज़ा नहीं थी। वहीं अगर किसी शूद्र पुरुष ने किसी ब्राह्मण महिला के साथ यौन संबंध स्थापित किए तो उसकी सज़ा मौत थी। चतुर्वर्ण से जुड़े इन सभी आदेशों का मकसद शूद्रों को ऐसे गरीब और दरिद्र मज़दूरों में तबदील कर देना था, जिनका दर्जा दासों के करीब हो और परजीवी शासक वर्ग इनके उत्पादक श्रम से उपजे भारी अधिशेष का मज़ा लूट सकें।

वैचारिक औचित्य

वर्ण को सही साबित करने के लिए, वक्त के साथ पुनर्जन्म और कर्म का सिद्धान्त सामने लाया गया, जो यह तर्क देता था कि व्यक्ति की जाति पिछले जन्म के कर्मों के आधार पर ईश्वर द्वारा पूर्वनिर्धारित होती है। ईश्वरीय अनुमोदन का यह भी मतलब था कि विभिन्न जातियों को समाज में जो अलग-अलग भूमिका दी गई थी, वह बदली नहीं जा सकती थी। इस तरह जाति ने समाज में वर्ग विभाजन को औचित्य प्रदान किया। इसके अलावा 'पवित्रता' और 'अपवित्रता' का विचार भी था, जो कि शायद मूलनिवासी कबीलों के इस सामाजिक व्यवस्था में घुलने-मिलने का नतीजा था। अगर कबीला पहले से कृषि समुदाय था तो वह कृषि जाति बन जाता था। पर, जैसे-जैसे भोजन संग्रह करने वाले तथा शिकार करने वाले कबीलों को अधीन बनाया जाने लगा, उन्हें या तो शूद्रों के दर्जे पर ला दिया जाता था, या फिर चांडालों के दर्जे में। चांडाल पूरे चतुर्वर्ण व्यवस्था से ही बाहर थे तथा उन्हें खेती करने का अधिकार भी नहीं था। वे पराधीन तथा दासों की स्थिति वाले भूमिहीन मज़दूरों के बड़े स्रोत बन गए। इनमें मरे हुए जानवरों की चमड़ी उतारने जैसा तथाकथित अपवित्र काम करने वाले लोग भी शामिल थे। इसी तरह अहिंसा के आदर्श की बात की जाती थी, जिसके आधार पर भोजन संग्रह करने वाले और शिकारी कबीलों के अधीन बनाने को सही ठहराया जाता था। भोजन संग्रह और शिकार के कारण

उन्हें हिंसक माना जाता था। अहिंसा के आधार पर ही किसानों के बड़े हिस्से को कलंकित किया गया। हल के इस्तेमाल को कीड़े-मकौड़ों के खिलाफ हिंसा के तौर पर देखा जाता था। इस तरह किसानों के बड़े हिस्से वैश्यों की बजाय शूद्रों के हिस्से बन गए। विडंबना यह कि वैदिक धर्म में ऊंची जातियों के द्वारा जानवरों की बलि को हिंसा नहीं माना जाता था।

शुरुआत में जाति की गतिशीलता के सबूत मिलते हैं, पर बाद में यह बेहद सीमित हो गई। जाति के दर्जे व कर्तव्यों के संदर्भ में नियम साफ़ तौर पर सुनिश्चित किए गए। वर्ण व्यवस्था को सही साबित करने के लिए मनुस्मृति दावा करती है कि ब्राह्मण आदि भगवान ब्रह्मा के सर से, क्षत्रिय उसकी भुजाओं से, वैश्य उसकी जांघों से तथा शूद्र उसके पैरों से बने। इसके मुताबिक वैश्यों को "जब मन हो तब खाया जा सकता है" (जब मन हो तब शोषित किया जा सकता है) और शूद्रों की "जब मन हो तब हत्या की जा सकती है।" इस आदर्श के बनिस्पत सच्चाई की निकटता तो समय-समय पर ठोस परिस्थितियों के हिसाब से बदलती रही, पर मंशा के बारे में कोई संदेह नहीं था।

मनुस्मृति ने पेशा बदलने को एक बड़ा अपराध बना दिया, जिसके लिए भारी दंड चुकाना पड़ता था। मनुस्मृति के मुताबिक समाज में चार स्तर के ढांचे को बनाए रखने की ज़िम्मेदारी राजा की थी तथा पेशा बदलकर इसे अस्तव्यस्त करने वालों को सज़ा सुनाने का कर्तव्य भी उसी का था। इसके अलावा वह ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को अपने एक समान वर्गीय हितों के लिए गठबंधन बनाने की सलाह देती है। मनुस्मृति कहती है कि इस गठबंधन के बिना चतुर्वर्ण व्यवस्था ही नहीं बचेगी। भगवद्गीता कहती है कि अपना वर्ण तथा पेशा बदलने से बेहतर है अपने स्व-धर्म का पालन करते हुए मर जाना। यह क्षत्रियों को लड़ने के अपने स्वधर्म के पालन न करने के नतीजों के बारे में बताती है और उन्हें चेतावनी देती है कि उनका उदाहरण देख कहीं निचले वर्ण भी अपना पेशा बदलने न लगे।

जाति के खिलाफ़ पहला विद्रोह

6वीं शताब्दी ई.पू. में बौद्ध व जैन धर्म के रूप में वैदिक धर्म के खिलाफ़ पहला विद्रोह सामने आया। लोहे के बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होने के कारण

इस समय के आसपास गंगा के मैदानों में जंगलों को साफ़ करने तथा पूरब की ओर आर्यों के विस्तार में मदद मिली। लोहे का इस्तेमाल हलों में भी हुआ जिससे इस क्षेत्र की भारी मिट्टी को जोत पाना संभव हो सका। इसके परिणामस्वरूप खेती का विस्तार हुआ और किसानों के लिए अधिक उपज पाना संभव हो सका। इसने शहरों के विकास में भी मदद की। इसके साथ ही इस दौर में व्यापार का विस्तार तथा धातु के सिक्कों का इस्तेमाल देखा गया। शहरों, व्यापार तथा मुद्रा अर्थव्यवस्था के विस्तार के फलस्वरूप विभिन्न शिल्पों का विकास एवं वस्तु उत्पादन के क्षेत्र में विशिष्टीकरण में बढ़ोत्तरी देखने को मिलती है। व्यापारी एवं शिल्पी वर्गों का स्पष्ट विस्तार देखने को मिला। पैसे के इस्तेमाल से पैसे उधार पर देने तथा सूदखोरी का प्रचलन भी सामने आया। इसी दौर में गांवों में गहपति कहलाए जाने वाले अमीर किसानों का भी उद्भव हुआ। शहरों तथा गांवों में सामाजिक असमानता बढ़ी तथा समानता की पुरानी कबीलाई मान्यताएं खत्म होने लगीं।

तत्कालीन वैदिक धर्म से गहपतियों, व्यापारियों तथा शिल्पियों के हित मेल नहीं खाते थे। उनकी हल-आधारित खेती की बुनियाद पर वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड व जानवरों की बलि, दोनों हमला करते थे। इसी तरह इसमें द्रव्यों, इत्र, कपड़े, मक्खन व खाद्यान्नों जैसी वस्तुओं के उत्पादन और व्यापार को अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता था। इसके अलावा अपवित्र माने जानी वाली वस्तुओं के साथ काम करने की भी अनुमति नहीं थी। कुछ वैदिक ग्रंथ समुद्री यात्रा को पाप मानते थे। व्यापारी, शिल्पी तथा गहपति ऐसा धर्म चाहते थे जो उनकी ज़रूरतों का ध्यान रखे। बौद्ध और जैन धर्म ने इन ज़रूरतों को पूरा किया। दोनों धर्मों ने अहिंसा पर जोर दिया और जानवरों के बली की निंदा की। ब्राह्मणवादी ग्रंथों के उलट उनका व्यापार तथा शिल्प आधारित उत्पादन के प्रति रूख सकारात्मक था। इसलिए ऊपर बताई गई वस्तुओं के उत्पादन तथा व्यापार को वे हिकारत की नज़रों से नहीं देखते थे। बौद्ध व्यापार के लिए समुद्र यात्रा को स्वीकृत करते थे। इसी तरह धर्मशास्त्र के लेखकों के उलट बौद्ध धर्म पैसे उधार देने या सूदखोरी को गलत नहीं मानता था।

जाति के वैदिक धर्म के साथ अनवरत तौर पर जुड़े होने के चलते यह लाज़मी था कि बौद्ध तथा जैन धर्म इस पर हमला बोलते। यह सीमित अर्थों में सही साबित हुआ। इस तरह दोनों ही धर्मों ने अपने भिक्षु समुदायों में सभी जातियों के लोगों को शामिल किया। चांडाल भी निर्वाण प्राप्त कर सकते थे। कहा जाता है कि एक चांडाल का बेटा मतंग निर्वाण प्राप्त कर सका, जबकि कई ब्राह्मण तथा क्षत्रिय यह प्राप्त नहीं कर सके। बौद्ध संघ वैश्याओं के लिए भी खुला हुआ था। ब्राह्मणवादी धर्म के उलट, बौद्ध व जैन धर्म अपने भिक्षुओं तथा भिक्षिकाओं को चारों वर्णों से भोजन लेने तथा आमंत्रित किए जाने पर उनके घरों में भोजन करने की अनुमति देता था। दोनों धर्म बार-बार दोहराते थे कि निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करने में जाति अप्रासंगिक है।

इसके बावजूद, न तो बौद्ध धर्म और न ही जैन धर्म ने जाति व्यवस्था तथा छुआछूत के खिलाफ़ शक्तिशाली संघर्ष चलाया। बौद्ध दर्शनशास्त्र का आधार कर्म का सिद्धांत था, जिसके मुताबिक व्यक्ति का मौजूदा दर्जा पिछले जन्मों के कर्म से निर्धारित होता है। जाति व्यवस्था को तर्कसंगत बनाने का यह आदर्श तरीका था। इसके अलावा बौद्ध धर्म छुआछूत से भी परहेज़ नहीं करता था। यह उसके द्वारा चांडालों तथा निशादों (मूल तौर पर आदिवासी) को अछूतों के तौर पर देखे जाने से साफ़ होता है। बौद्ध जातक कथाओं में चांडालों को पृथ्वी पर सबसे घटिया जीव माना गया है, जिनके सम्पर्क में आई हुई हवा भी प्रदूषित हो जाती है। बौद्ध व जैन धर्मों ने वर्गीय शोषण को बढ़ाने में जाति की भूमिका पर सवाल नहीं उठाए। यह सच है कि दोनों ही धर्मों ने अपने अनुयाइयों से इन्सानों का व्यापार न करने तथा दासों के स्वामियों से अपने दासों के साथ अच्छा बर्ताव करने की अपील की। मगर, उन्होंने दास प्रथा पर कोई सवाल नहीं उठाया। इसके अलावा बुद्ध ने कहा कि कर्जदारों व दासों को दीक्षा नहीं दी जा सकती है, अर्थात वे बौद्ध संघ का हिस्सा नहीं बन सकते हैं। कुल मिलाकर कहें तो बौद्ध तथा जैन धर्मों ने तत्कालीन वर्गीय शोषण एवं जाति व्यवस्था की बुनियाद पर कोई असरदार चोट नहीं की।

मौर्य साम्राज्य से लेकर तुर्कों के आगमन तक जाति

6वीं शताब्दी ई.पू. में अखिल भारतीय स्तर पर क्षेत्रीय राज्यों का उद्भव भी हुआ। तीसरे शताब्दी ई.पू. में भारत के बड़े हिस्से तक फैले पहला विशाल साम्राज्य – मौर्य साम्राज्य का उद्भव हुआ। मौर्य वंश ऊंची जातियों का नहीं था, जिसका मतलब है कि निचली जाति का भी कोई व्यक्ति आवश्यक सैन्य ताकत जुटाकर तथा राजनीतिक सत्ता पर कब्जे के जरिए शासक बन सकता था। पर, इससे निचली जाति के आम लोगों के दर्जे या स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया। मौर्य साम्राज्य में खेती का विस्तार करने के लिए बड़े स्तर पर दासों जैसे शूद्र मजदूरों का इस्तेमाल किया गया। अशोक ने भी वर्गीय व जातीय शोषण को कम करने के लिए कुछ नहीं किया। असल में मूल निवासियों के साम्राज्य के नियंत्रण में आने तथा उन्हें शूद्र या चांडाल का दर्जा देने से शोषण के स्तर में बढ़ोतरी ही हुई। पत्थर के खम्भों पर दर्ज अशोक के अध्यादेशों के मुताबिक उसने शिकार तथा मछली मारने पर प्रतिबंध लगा दिया था। इससे इन पेशों में लगे हुए लोगों को जाति से बाहर करने के प्रचलन को ही बल मिला।

मौर्य साम्राज्य के बाद अगली 4–5 शताब्दियों में केन्द्रीय एशिया से कुशाण, शक, सातवाहन और हूण द्वारा एक के बाद एक विदेशी आक्रमण हुए। उन्हें शुरुआत में चांडाल कहा गया यानिकि वे जो आर्य समाज के ढांचे से बाहर थे। पर, उनके द्वारा राजनीतिक सत्ता हासिल करते ही उन्हें क्षत्रिय का दर्जा दिया गया। ऐसे तत्वों तथा मूलनिवासी कबीलाई लोगों से ही राजपूतों का उद्भव हुआ। उन्हें क्षत्रिय का दर्जा देने के लिए अग्नि कुंड के मिथक तथा सूर्यवंशियों व चंद्रवंशियों की वंशावली गढ़ी गई।

4–6 शताब्दी के बीच गुप्त साम्राज्य के दौरान सामंतवाद का उद्भव हुआ। इसके मजबूत होने में जाति की भी अहम भूमिका थी। सामाजिक पदक्रम के इसके मत तथा आर्थिक शोषण के हथियार के तौर पर इसकी भूमिका और सामंतवाद के भीतर सामाजिक दर्जे को बिना किसी सवाल के मानने की प्रवृत्ति में समानताएं थीं। जो बुनियादी बात ध्यान में रखने की जरूरत है वह यह है कि जाति ने वर्गीय तथा जातीय शोषण को बनाए रखने व उसे मजबूत करने के हथियार की भूमिका अदा की।

दिल्ली सल्तनत और मुग़ल काल के दौरान जाति

सन् 1000 के आसपास तुर्कों के आक्रमणों से पहले के दौर में जाति व्यवस्था में और अधिक जड़ता आ गई थी। अल-बेरुनी की किताब—उल—हिंद में इस प्रक्रिया का सजीव ढंग से चित्रण हुआ है। इस दौर में जाति के खिलाफ़ गुस्सा योगी तथा नागपंथी सम्प्रदायों के उद्भव के रूप में सामने आया। इन सम्प्रदायों ने जाति पर हमला किया व इसके प्रति अपना विरोध प्रकट करने के लिए सन्यास का रास्ता अपनाया। विरोध के इस तरीके के असर का सीमित होना स्वाभाविक था।

दिल्ली सल्तनत के शासकों ने जाति व्यवस्था पर हमला नहीं किया। कई निचली जातियां इस्लाम की तरफ आकर्षित हुईं क्योंकि इस्लाम अपने सभी मानने वालों को बराबरी का वादा करता है। पर पहले सुल्तान तथा बाद में मुग़लों ने भारत पर प्रभावशाली तरीके से नियंत्रण करने के लिए पुराने शासकों तथा सामंतों का समर्थन चाहा, जो कि मुख्य तौर पर ऊंची जातियों से ही आते थे। गैर—मुसलमानों पर लगाया जाने वाला धार्मिक कर—जज़िया—ब्राह्मणों पर नहीं लगाया गया। इसके अलावा जाति— जो किसानों तथा शिल्पकारों के बड़े हिस्से को सबसे निचले सामाजिक स्तर में ढकेलती थी— अधिक अधिशेष निकालने में भी मदद करती थी।

जाति ने एक और तरीके से सामंतवाद को बढ़ावा दिया। हालांकि ज़मीन प्रचूरता में मौजूद थी, शूद्र अपनी जातिगत स्थिति के चलते इसका स्वामित्व नहीं कर सकते थे। इसने सामंतों, ज़मींदारों तथा चौधरियों की ज़मीन जोतने के लिए खेतिहर मजदूरों के बड़े वर्ग को बनाए रखने में मदद की।

वर्गीय शोषण में मदद करने में जाति की भूमिका किसान विद्रोहों के सन्दर्भ में भी नज़र आती है, जिसके सबूत 11वीं शताब्दी से सामने आने लगते हैं। जाति के चलते किसानों के बीच उस व्यापक स्तर पर एकता नहीं बन सकी जो मध्यकालीन यूरोप के किसान विद्रोहों में संभव हो सकी।

सुल्तान तथा मुग़ल अपने उद्भव की जगहों से नए शिल्प व तकनीक लेकर आए। इसमें चर्खा, पिंजना, कागज़ बनाना, सही मेहराब और गुम्बद

बनाने की निर्माण तकनीक, गारे के तौर पर चूने का इस्तेमाल तथा घोड़ों की नाल लगाना आदि शामिल थे। इससे नई शिल्पकार जातियों का विकास हुआ जो वंश तथा सगोत्र के आधार पर बनीं।

जाति के खिलाफ भक्ति विद्रोह

मध्यकालीन भारत में भक्ति आंदोलन के तौर पर जाति के खिलाफ दूसरा बड़ा विद्रोह देखने को मिला (पहला बौद्ध और जैन धर्म का उद्भव था)। भक्ति आंदोलन का उद्भव व्यापार तथा वाणिज्य के विकास की पृष्ठभूमि में हुआ। यह व्यापारी जातियों व किसानों की ऐसी धार्मिक-सामाजिक व्यवस्था की आकांक्षा को परिलक्षित करता था जो जाति के दर्जे के आधार पर उनके साथ भेदभाव न करे। कई 'भक्त' निचली जातियों से थे। कबीर जुलाहे थे, नामदेव कपड़े की छपाई का काम करते थे, रैदास मैला ढोते थे और दादू कपास बीनते थे।

निर्गुण भक्ति वेदों की सत्ता, कर्मकाण्डों तथा जाति व्यवस्था को खारिज करती थी। एकेश्वरवादी संतों द्वारा बनाए गए ये पंथ सभी जातियों के लोगों के लिए खुले हुए थे। इनमें से कुछ ने निचली जातियों के लोगों के लिए खास अपील की। इस तरह सिखों के पांचवें गुरु, अर्जुन, धन्ना जाट के नाम से लिखे एक छंद में जोर देकर कहते हैं कि भगवान की खास अनुकंपा निचली जातियों के श्रद्धालुओं पर होती है।

कबीर के प्रति कुछ निष्ठा रखने वाला सतनामी पंथ 17वीं शताब्दी में सामने आया। एक विवरण के मुताबिक उसमें सुनार, बढई, सफाईकर्मी तथा चमड़ा रंगने वाले, किसान और छोटी पूंजी के व्यापारी शामिल थे। 17वीं शताब्दी में सिख समुदाय में अधिकतर जाट किसान ही थे, पर अगली शताब्दी में ही एक फ़ारसी किताब में शिकायत की जाती है कि सिखों में सत्ता "सफाईकर्मी और चमड़ा उतारने वाले को भी दी जा सकती है।" इन पंथों में समुदाय के भीतर जाति के भेद रखने की मनाही थी। लेकिन दूसरी तरफ़, सतनामी जैसे समुदायों के ग्रंथ उन्हें सगोत्र विवाह करने के लिए कहते थे। इस सब का सम्मिलित असर यह हुआ कि नए धार्मिक समुदाय अस्तित्व में आए जिनके अनुयाई जाति ढांचे से ही आते थे और उसी ढांचे

में वापस लौट जाते थे – बस उनका जातिगत दर्जा पहले की तुलना में ऊंचा हो जाता था। यह कर्नाटक में लिंगायतों के साथ भी हुआ। 16वीं तथा 17वीं शताब्दी के इन आंदोलनों ने जाति व्यवस्था में कुछ बदलाव तो किए, पर इसे पलटने का काम नहीं किया।

इसलिए निर्गुण भक्तों द्वारा जाति पर हमलों की तारीफ़ करते हुए इनकी सीमाओं को सामने लाना भी आवश्यक है। बौद्ध तथा जैन धर्मों की तरह इन्होंने भी माना कि मुक्ति के लिए जाति अप्रासंगिक है। पर, इन्होंने आर्थिक शोषण के हथियार के तौर पर जाति पर हमला नहीं किया और असल में तत्कालीन सामंती ढांचे के तर्क को स्वीकार ही किया। इनमें से कुछ ने कर्म के सिद्धान्त को भी माना जिसने जाति को एक प्रमुख वैचारिक औचित्य प्रदान किया। इन सीमाओं को देखते हुए हम कह सकते हैं कि निर्गुण भक्त अपने आप को जाति चेतना से पूरी तरह मुक्त नहीं कर सके। इसका एक उदाहरण है नानक द्वारा निचली जाति की औरतों की तुलना विभिन्न बुराईयों से करना। भक्ति आंदोलन में एक और रुझान था जो ब्राह्मणवादी मूल्यों के प्रति-अभिपुष्टिकरण को दर्शाता है। इसका प्रतिनिधि तत्व तुलसीदास और सूरदास जैसे लोग करते हैं, जिन्होंने जाति व्यवस्था का समर्थन किया। तुलसीदास का शूद्रों, महिलाओं और पशुओं को दंड के अधिकारी होने की बात तो आम प्रचलन में है ही।

मध्यकालीन भारत में जाति की सीमित गतिशीलता

मध्यकालीन भारत में भी जाति की सीमित गतिशीलता मौजूद थी। इस तरह 8वीं शताब्दी के छाछनामा में जाटों को चांडाल कहा जाता है, जबकि 11वीं शताब्दी में अल बरूनी की *किताब-उल-हिंद* में शूद्र और 17 वीं शताब्दी आते आते, ज़मीन की मिल्कियत वाली जाति में परिवर्तित होने पर मोहसिन फ़ानी की दबिस्तान-ए-मज़ाहिब में उन्हें वैश्य कहा जाता है। पूर्वी राजस्थान के मीणाओं के बारे में उलट सच है। सल्तनत के दौरान उन्हें ज़मीन की मिल्कियत वाली गैर-शूद्र जाति माना जाता था। मुग़लों के दौर में ज़मीन छिनते ही उन्हें शूद्र की संज्ञा दी गई। आज वो अनुसूचित जनजाति हैं। यह उत्पादन के साधनों के स्वामित्व तथा जाति के दर्जे के

बीच संबंधों को दर्शाता है। इसी तरह मध्यकालीन भारत में राजनीतिक सत्ता पर कब्जे के बाद निचली जाति के शासकों के स्वीकार किए जाने के उदाहरण भी मौजूद हैं। शिवाजी इसके आदर्श उदाहरण हैं।

ब्रिटिश शासन के दौरान जाति

भारत पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का असर दोहरा और द्वन्द्वात्मक था। एक ओर इसने जाति को उलटने के लिए कुछ नहीं किया। खासकर 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद सामंत भारत में ब्रिटिश शासन के मजबूत समर्थक का काम करने लगे। इसलिए जाति पर हमले का कोई सवाल ही नहीं उठता था क्योंकि सामंती सत्ता और मूल्यों को बनाए रखने में इसकी अहम भूमिका थी। बाद में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का सामना करते हुए अंग्रेजों ने जातिगत पहचानों को मजबूत किया तथा उनके वर्चस्व के खिलाफ भारतीय जनता की एकता को तोड़ने के हथियार के तौर पर जातिगत विभाजनों का इस्तेमाल किया। ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने 1871 से जनगणना शुरू की। इन जनगणना रिपोर्टों ने जाति समूहों के बीच प्रतिस्पर्धी मांगों के उठने में स्पष्ट भूमिका अदा की और इस तरह जातिगत तनावों को बढ़ाने का काम किया।

दूसरी ओर, औपनिवेशिक शासन के दौरान पूंजीवादी विकास (हालांकि सीमित) से श्रम के वंशागत विभाजन का कमजोर होना तय था। जब ब्राह्मण और शूद्र फैक्टरियों में मिलकर काम करते हैं तब जाति के सख्त नियम पूरी तरह से लागू नहीं किए जा सकते हैं। पर इस बात को बढ़ाचढ़ा कर नहीं प्रस्तुत किया जाना चाहिए क्योंकि शुरुआती मजदूर वर्ग का बड़ हिस्सा ऊंची जातियों से आता था। इसके अलावा फैक्टरियों के बाहर कई कारण थे जिन्होंने जातिगत विशिष्टाओं और भेदभाव को बनाए रखने में मदद की।

आधुनिक जाति-विरोधी आंदोलन

पूंजीवाद के विकास के साथ नए विचार और तर्कवाद आया। इसने 19वीं और 20वीं सदी के समाज सुधार आंदोलन को प्रोत्साहन देने में

भूमिका अदा की। पर, सभी समाज सुधार आंदोलन प्रगतिशील या आधुनिकता की ओर उन्मुखी नहीं थे। इनमें से कई घोर रूढ़िवादी, साम्प्रदायिक तथा कट्टरपंथी थे। इनमें से कुछ ने जाति व धर्म की पहचानों को बढ़ावा तक दिया और कईयों ने विभिन्न प्रकार की साम्प्रदायिकताओं तथा पुनरुत्थानवाद, जो किसी काल्पनिक 'स्वर्ण युग' की ओर वापस जाने की बात करते थे, के उभार में भूमिका निभाई।

फिर भी 19वीं सदी में बंगाल तथा महाराष्ट्र में और 20वीं सदी में केरल में ऐसे समाज सुधार आंदोलन हुए जिन्होंने जाति पर हमला किया। इनमें से कई जाति विरोधी समाज सुधार आंदोलन बुर्जुआ राष्ट्रवाद के उदय से काफी पहले सामने आ गए थे। इन सब में एक बात आम थी— भक्ति-सूफी आंदोलन की जाति विरोधी सामाजिक समता की परम्परा का इस्तेमाल। हालांकि इनका चरित्र प्रगतिशील था, फिर भी इनमें से अधिकतर आंदोलनों ने जाति को पूरे तौर पर खारिज करने की बात नहीं की। इन्होंने खास विशिष्टाओं पर ही हमला बोला। बहुत कम सुधारकों ने सभी शोषितों की एकता की बात की तथा किसी ने भी उन भूमि संबंधों पर हमला नहीं किया जो जाति व्यवस्था को पोषित करते थे।

इन आंदोलनों की मुख्य कमजोरी थी साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन से इनका अलगाव जोकि काफी हद तक कांग्रेस पार्टी के जाति के प्रति समझौतावादी रुख का नतीजा था। कृषि क्रांति के ज़रिए घृणित जाति व्यवस्था को पोषित करने वाले कृषि के उत्पादन संबंधों को बदला जा सकता था, पर कांग्रेस पार्टी जाति के वर्चस्व के खिलाफ लड़ने के लिए कृषि क्रांति की वकालत नहीं करती थी। उलट उसका रुख सुधारवाद का उच्च जातीय दृष्टिकोण था। इसके विशिष्ट पहलू, जिनकी आगे चलकर गांधी द्वारा वकालत की गयी, वो थे: छुआछूत के खिलाफ प्रवचन तथा अन्तर्जातीय भोजन, अन्तर्जातीय विवाह और आरक्षण की वकालत के साथ जातिवाद की आधार संरचना वर्ण व्यवस्था की स्वीकृति।

ज्योतिबा फूले, पेरियार तथा अंबेडकर आधुनिक जाति विरोधी आंदोलन के सबसे अहम व्यक्तित्व थे। उनके काम तथा योगदान का संक्षिप्त मूल्यांकन नीचे दिया जा रहा है :

ज्योतिबा फूले

ज्योतिबा फूले महाराष्ट्र में एक ऐसे सुधारक थे जिन्होंने जाति व्यवस्था को सम्पूर्णता में खारिज किया। उन्होंने औपनिवेशिक शासकों तथा नौकरशाही के ब्राह्मणवाद, जाति उत्पीड़न तथा शोषण का स्पष्ट विरोध किया तथा शूद्रों, अति-शूद्रों (अछूतों) और महिलाओं की एकता के प्रयास किए। उनका मानना था कि सभी महिलाएं जाति उत्पीड़न की शिकार थीं। ब्राह्मणों की विधवाओं के सर मुंडवाने की प्रथा के खिलाफ उन्होंने पुणे में नाईयों की हड़ताल संगठित की। उन्होंने दलित, मुसलमान तथा ईसाइयों के लिए पूरी बराबरी की मांग की तथा किसानों और गरीबों के आर्थिक शोषण का विरोध किया। बड़े पैमाने पर सामाजिक विरोध का सामना करने के बावजूद उन्होंने कभी अपने सिद्धान्तों के साथ समझौता नहीं किया। उन्होंने अपनी पत्नी सावित्रीबाई को भी पढ़ना-लिखना सिखाया। इस तरह वो 1848 में दलित बच्चियों की पहली शिक्षिका बनी और आगे चलकर अपने वक्त में पत्रिकाओं तथा अखबारों में लिखने वाली पहली लेखिका भी बनी। उनके अनुयाईयों में से एक नारायण मेघाजी लोखंडे ने बंबई में मजदूरों का पहला संगठन बनाया। पर 1890 में हुई उनकी मौत के 2 दशकों के अंदर ही उनका आंदोलन, सत्यशोधक समाज कोल्हापुर राजा के हाथों में चला गया और विकृत हो गया। 1910 आते-आते जाति को खारिज करने के बजाय यह संगठन महज मराठों के लिए जाति व्यवस्था में ऊंचे दर्जे की मांग करने तक सीमित रह गया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ भी उसकी धार कुंद हो गई।

पेरियार

पेरियार ई.वी. रामास्वामी तमिलनाडु में जाति व्यवस्था तथा इसके द्वारा अपरिहार्य बना दिए गए सामाजिक उत्पीड़न और गैर-बराबरी के खिलाफ प्रमुख आवाज़ थे। उन्होंने जाति आधारित प्रचलनों, छूआछूत तथा जाति व्यवस्था को चलाए रखने में मदद करने वाले दकियानूसी विश्वासों व प्रथाओं का मुखर विरोध किया। उन्होंने दलितों में आत्म-गौरव की भावना के विकास के लिए काम किया तथा इस लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए

सेल्फ रेस्पेक्ट लीग की स्थापना की। वे तमिलनाडु में जाति-विरोधी भावनाओं को पैदा करने में काफी हद तक सफल रहे। वे बिना किसी संदेह के द्रविड़ आंदोलन के सबसे बड़े नेता थे, जो 20वीं सदी में जाति विरोधी आंदोलनों के एक और धारा का प्रतिनिधित्व करता था। वे शुरूआती दौर में कांग्रेस में थे, पर कांग्रेसी नेताओं के घृणित जातिवाद के चलते बहुत जल्द उन्होंने इसे छोड़ दिया। शुरूआत में तत्कालीन भूमि संबंधों पर हमला बोलने के बाद उन्होंने इस मुद्दे को छोड़ दिया। वे जाति विरोधी भावनाएं पनपाने में तो सफल रहे पर उन्होंने जाति व्यवस्था के ढांचे को सहारा देने वाले प्रमुख आधार सामंती भूमि संबंधों पर हमला नहीं बोला। वे साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन से भी दूर रहे।

अंबेडकर

अंबेडकर दलितों में जाति विरोधी आंदोलन के सबसे बड़े नेता थे। वे संविधान के निर्माणकर्ता भी थे तथा महिला अधिकारों के प्रबल हिमायती थे। अपने समकालीनों के उलट वे जाति व्यवस्था या हिन्दू धर्म में सुधार नहीं करना चाहते थे। वे जाति का खात्मा करना चाहते थे और इस दिशा में उन्होंने वर्ण व्यवस्था को दैविक अनुमोदन देने वाली जाति तथा हिन्दू धर्म दोनों की भर्त्सना की। मार्च 1927 में रायगढ़ ज़िले के महाड़ में चवदार तालाब के संघर्ष में डॉ० अंबेडकर ने हजारों दलितों को तालाब से पानी पीने के लिए लामबंद किया तथा महाड़ ही में 25 दिसंबर, 1927 को उन्होंने "मनुस्मृति दहन दिवस" मनाया जहां सार्वजनिक तौर पर मनुस्मृति को जलाया गया। 1930 में नासिक समेत कई जगहों पर उन्होंने मंदिर प्रवेश के आंदोलन चलाए। वे जाति उत्पीड़न के खिलाफ लड़ने वाले अथक योद्धा थे और उन्होंने कांग्रेस के पाखंड की कलाई खोलकर रख दी। उन्होंने गांधी के छूआछूत विरोधी अभियान को ऊंची जातियों के हित साधने के तथा वर्ण व्यवस्था को बनाए रखने के औज़ार के रूप में देखा।

अंबेडकर महज कोई उदारवादी या संवैधानिक प्रजातंत्रवादी नहीं थे। उनके रैडिकलिज़्म ने बुर्जुआ उदारवाद की सीमाओं को तोड़कर रख दिया। उन्होंने चेतावनी दी थी कि आर्थिक और सामाजिक बराबरी के बिना

संविधान तथा राजनैतिक जनतंत्र सतही बनकर रह जाएगा। उनका आर्थिक कार्यक्रम पारम्परिक बुर्जुआ मानकों से काफी आगे का था। जब अर्थव्यवस्था पर राज्य के नियंत्रण की उनकी वकालत का विरोध इस तर्ज पर हुआ कि इससे 'स्वतंत्रता' सीमित होगी, तब उन्होंने जवाब दिया— "यह स्वतंत्रता किसकी है और किसके लिए है? साफ है कि यह जमींदारों के लिए मालगुजारी बढ़ाने की, पूंजीपति के लिए काम के घंटे बढ़ाने तथा मजदूरी की दर कम करने की स्वतंत्रता है।"

अंबेडकर महिला अधिकारों के लिए लड़ने वाले सतत योद्धा थे। आज़ादी के बाद पहली कैबिनेट में कानून मंत्री के तौर पर उन्होंने हिन्दू कोड बिल, जो महिलाओं को सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार देता था, की पुरजोर वकालत की। कांग्रेस के भीतर तथा हिन्दू रूढ़िवादी ताकतों के प्रतिरोध का सामना करते हुए इस मुद्दे पर समझौता करने के बजाय अंबेडकर ने इस्तीफ़ा देने का फैसला किया।

भाजपा तथा संघ गठजोड़ अंबेडकर को हड़पने के सक्रिय प्रयास कर रहे हैं। वे उन्हें हिन्दू समाज सुधारक तथा इस्लाम के कट्टर विरोधी के तौर पर दिखाने के प्रयास करना चाहते हैं। अंबेडकर द्वारा हिन्दू धर्म को अस्वीकार किए जाने तथा बौद्ध धर्म अपनाने को नज़रअंदाज किया जा रहा है। इसका मकसद अंबेडकर को संघ के मंच पर हिन्दू नायकों के बीच एक दलित चेहरे के तौर पर स्थापित करना है। सच के साथ इससे बड़ा मज़ाक हो नहीं सकता। अंबेडकर हिन्दू महासभा तथा आरएसएस की विचारधारा का पूरे तौर पर विरोध करते थे। उन्होंने लिखा, "अगर हिन्दू राज सच बन जाता है, तो यह देश के लिए सबसे बड़ी आपदा होगी।" उनके लिए स्वतंत्रता, बराबरी तथा बंधुत्व किसी भी सभ्य समाज के सबसे प्रिय आदर्श थे। उनके मुताबिक वर्णाश्रम धर्म तथा हिन्दू शास्त्र इन आदर्शों के एकदम विपरीत थे।

अंबेडकर के काम के कुछ अन्य पहलू थे जो विचारधारा, दृष्टिकोण तथा कार्यप्रणाली की कुछ कमज़ोरियां सामने लाए। उन्होंने शुरुआत में दलितों के लिए अलग ज़मीन तथा कालोनियों की मांग की। दलितों के लिए ज़मीन की मांग सही थी। पर, यह ब्रिटिश उपनिवेश तथा उनके

जमींदार सहयोगियों के खिलाफ़ सभी भूमिहीनों के निरंतर संघर्ष से ही संभव था। दुर्भाग्यवश अंबेडकर दलितों की मुक्ति में कृषि क्रांति की भूमिका को समझ नहीं पाए। अगर उन्होंने ज़मीन के सवाल पर उनकी लामबंदी की होती तथा भूमिहीनों के आंदोलनों के साथ मिलकर काम किया होता, तो वे जाति व्यवस्था के आधार पर चोट कर पाते तथा दलितों की असली मुक्ति का रास्ता खुल सकता।

इसके उलट, उन्होंने अंग्रेजों से दलितों के लिए आरक्षण की मांग की। स्वतंत्रता आंदोलन को विभाजित करने के अपने मकसद में अंग्रेजों ने दलितों और मुसलमानों, दोनों को आरक्षण दिया। अंबेडकर तथा उनके नेतृत्व वाले आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन से किनारा ही रखा। कांग्रेसी नेताओं के जातिवाद के प्रति उनकी घृणा तो समझ में आती है, पर इस से दलितों की कोई खास मदद नहीं हुई।

कम्युनिस्टों के सभी जातियों के मेहनतकशों की वर्गीय एकता के नारे को वे सही नहीं मानते थे। उनका मानना था कि इस नारे से दलितों का भला नहीं हुआ है। बाद में वे तथा उनके अनुयायियों ने ब्राह्मणवादी समाज के जाति उत्पीड़न से बचने के लिए बौद्ध धर्म अपना लिया। इससे दलितों की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया और यह विडम्बना है कि बाद में नव-बौद्ध अपनी जातिगत दर्जे के आधार पर आरक्षण की मांग करने लगे। कम्युनिस्टों तथा अंबेडकर दोनों में दृष्टिकोण व विचारधारा में मतभेद के बावजूद काफी समानताएं भी थीं क्योंकि दोनों ही अपने-अपने तरीके से आर्थिक और सामाजिक मुक्ति के लिए प्रयासरत थे।

अंबेडकर को उनकी रैडिकल मुक्तिगामी दृष्टि से अलग करके आइकन के तौर पर स्थापित करने के प्रयासों से बचाना ही होगा। कई दलित नेता अंबेडकर की पूरी धरोहर को बस आरक्षण और कोटे की राजनीति तक सीमित करते हुए पीठासीन करने के दोषी हैं, जो उन्हें शासक वर्ग की राजनीति का पिछलग्गू बनाता है। अंबेडकर के व्यापक मुक्तिगामी संदेश का प्रभाव दलित तथा जाति विरोधी आंदोलन पर पड़ना चाहिए। भारत में सामाजिक मुक्ति वर्ग संघर्ष का अहम हिस्सा है। भारत में कम्युनिस्टों के लिए अंबेडकर की यही स्थायी प्रासंगिकता है।

उत्तर भारत में सुधार आंदोलन

उत्तर भारत में समाज सुधार आंदोलनों की संख्या और विस्तार और भी कम था। 1875 में बना आर्य समाज आंदोलन जाति को तो खारिज करता था, पर जाति व्यवस्था के आधार चतुर्वर्ण व्यवस्था की वैधता को मानता था। इन राज्यों में एक और रुझान देखने को मिलता था जो कहता था कि जाति व्यवस्था तो ठीक है, पर किसी खास जाति को इसमें जो दर्जा मिला हुआ है वह गलत है। इसके उदाहरण हैं बिहार में ग्वाल, अहिर तथा यादव आंदोलन जिन्होंने ठाकुरों की तरह जनेऊ समारोह अपनाकर अपनी जाति का दर्जा ऊंचा करने के प्रयास किए। हिन्दी भाषी राज्यों में मजबूत सामंती भूमि संबंध असल जाति-विरोधी आंदोलनों के विकास के रास्ते में रोड़ा थे।

राष्ट्रीय आंदोलन के बुर्जुआ नेतृत्व का जाति के प्रति रुख

राष्ट्रीय आंदोलन का कांग्रेस नेतृत्व पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था। विदेशी शोषक के खिलाफ सभी भारतीयों की एकता की दलील देकर वह सामंतवाद का मुखर तौर पर मुकाबला करने को तैयार नहीं था। यह तब, जब सामंत ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रमुख अंदरूनी आधार थे। सामंतवाद के साथ इस समझौते का साफ तौर पर मतलब था जाति समेत तमाम सामंती विचारधाराओं के साथ समझौता। सामंतवाद पर हमला किए बिना तथा जोतने वाले के लिए ज़मीन की लड़ाई लड़े बिना शूद्रों की वास्तविक स्थिति में बेहतरी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। राष्ट्रीय आंदोलन के अधिकतर नेताओं ने जाति व्यवस्था को स्वीकार कर लिया था। इनमें से तिलक जैसे तो खुलेआम जातिवादी थे। अंबेडकर गुस्से के साथ दर्ज करते हैं कि कैसे 1931 में दूसरे गोल मेज़ सम्मेलन के दौरान मदन मोहन मालवीय ने उनके हाथ से पानी का ग्लास लेने से मना कर दिया था। इस दौर में जाति के सवाल पर पूंजीपति वर्ग के दृष्टिकोण का सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व गांधी करते हैं। उन्होंने वर्णाश्रम को मान्यता दी, पर जाति तथा छूआछूत का विरोध किया। 'हरिजन' शब्द से ही शूद्रों के प्रति उनके पितृसुलभ रुख का पता चलता है, जिसका इस्तेमाल वो इनके

लिए करते थे। दलित आज सही ही इस शब्द से नफ़रत करते हैं। जाति पर हमला बोलने में कांग्रेस की अनिच्छा तथा इसके कई नेताओं के जातिवादी व्यवहार ने राष्ट्रीय आंदोलन में दलितों के व्यापकतम हिस्सों के शामिल होने में बाधा पैदा की।

'फूट डालो और राज करो' के लिए अंग्रेजों द्वारा जाति का इस्तेमाल

कांग्रेस के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आंदोलन से दलितों के अलगाव का अंग्रेजों ने पूरा फ़ायदा उठाया। इस तरह, जहां 1871 की जनगणना में दलितों को हिन्दुओं के हिस्से के तौर पर दर्शाया गया था, वहीं 1901 में उन्हें अलग गिना गया। इसी तरह, दलितों के लिए आरक्षण की मांग को मानने के पीछे अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति ही काम कर रही थी। अंग्रेजी राज के दौरान सीमित पूंजीवादी औद्योगिकीकरण ने दलितों को फैक्टरियों, सेना, रेलवे तथा बंदरगाहों में नौकरी के अवसर दिए। इसके बावजूद उन्हें अलग कालोनियों में रहना पड़ता था तथा कपड़ा मिलों के बुनाई विभाग में काम करने नहीं दिया जाता था। इसके अलावा उन्हें आम तौर पर ऐसे काम मिलते थे, जिसमें शारीरिक श्रम का सबसे



अधिक इस्तेमाल होता था। मगर सीमित होने के बावजूद इन अवसरों से उनकी स्थिति पहले से कुछ बेहतर हुई। इसे तथा कांग्रेसी नेताओं के जातिवादी रुख को देखते हुए दलितों के कई हिस्सों ने कांग्रेस के नेतृत्व वाले स्वतंत्रता संघर्ष से दूरी बनाई रखी।

आज़ाद भारत में जाति

आज़ाद भारत के शासक वर्गों द्वारा जाति का अपने हित में इस्तेमाल

आज़ादी के बाद से पूंजीपति-भूस्वामी शासक वर्गों ने जाति को बनाए रखना चाहा है। जाति तथा जाति की विचारधारा को पोषित करने वाले पूर्व पूंजीवादी, सामंती तथा अर्द्ध-सामंती संबंधों पर कोई भी सीधा हमला नहीं हुआ है। यह पूंजीपति वर्ग के ज़मींदारों के साथ समझौते का नतीजा है। पर, यह पूरी तस्वीर नहीं दिखाती है। जैसा कि सीपीआई(एम) के कार्यक्रम का पैरा 5.12 दर्शाता है कि: “पूंजीवादी विकास के तहत समाज ने, मौजूदा जाति व्यवस्था के साथ, समझौता कर लिया है। भारतीय पूंजीपति वर्ग खुद जातीय पूर्वाग्रहों को बढ़ावा देता है।” यह पूंजीपति वर्ग द्वारा अपनी वर्गीय सत्ता को बनाए रखने के लिए, मज़दूर वर्ग तथा अन्य मेहनतकशों को विभाजित रखने की ज़रूरत तथा हज़ारों सालों की प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं के गहरे असर का नतीजा है। यहां यह भी रेखांकित करने की ज़रूरत है कि भारत में पूंजीवाद का विकास जाति व्यवस्था के साथ समझौते से गुंथा हुआ है, जिससे दलितों—जो कि मज़दूर वर्ग तथा ग्रामीण सर्वहारा वर्ग का बड़ा हिस्सा हैं—से अधिशेष मूल्य निचोड़ने की प्रक्रिया को तेज़ किया जा सके। इसके अलावा, शासक वर्ग के दलों के चुनावी फ़ायदे के लिए जाति एक असरदार राजनीतिक हथियार है।

मौजूदा जातिगत उत्पीड़न

भारतीय पूंजीपति वर्ग के जाति के साथ समझौते तथा इसके द्वारा राजनीतिक हथियार के तौर पर जाति के स्वार्थपूर्ण इस्तेमाल को देखते हुए

इस बात में कतई आश्चर्य नहीं है कि देश के विभिन्न इलाकों में आज भी जातिगत उत्पीड़न अपने सबसे घृणित स्वरूप में मौजूद है। यह बिहार, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश जैसे क्षेत्रों के लिए खासकर सच है, जहां पुराने स्वरूप के भूमि संबंधों का आज भी बोलबाला है तथा खेती में पूंजीवाद का सीमित विकास हुआ है। इन राज्यों में जातिगत उत्पीड़न जनसंहारों, बसावटों को जलाने तथा बलात्कार का स्वरूप लेता है। यह ज़मींदारों द्वारा खेतिहर मज़दूरों तथा अन्य ग्रामीण ग़रीबों के आंदोलनों को कुचलने के प्रयासों से भी जुड़ा हुआ है। पर, इसका मतलब यह नहीं है कि उन क्षेत्रों में जहां पूंजीवाद खेती में उत्पादन की प्रमुख व्यवस्था है, वहां हिंसक किस्म का जातिगत उत्पीड़न मौजूद नहीं है। हरियाणा तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के इलाकों में अंतरजातीय विवाहों के ‘अपराध’ के चलते जाति पंचायतों के फ़रमान पर हत्याएं होती हैं या फिर जो दलित दूल्हे अपनी शादियों में घोड़ी पर चढ़ने की हिम्मत करते हैं उन्हें हिंसा का सामना करना पड़ता है। इस उत्पीड़न का सबसे अधिक सामना महिलाओं को करना पड़ता है क्योंकि उन्हें अपने समुदायों की ‘इज़्जत’ का प्रतीक माना जाता है। अतः उन्हें बेइज़्जत करना उनकी जाति को बेइज़्जत करने समान है। दलित महिलाएं आज भी ज़मींदारों के यौन हमलों की शिकार हो रही हैं। निचली जातियों की महिलाओं के कपड़े उतारने तथा उन्हें नंगा घुमाने के मामले सामने आते रहे हैं।

इसके अलावा जातिगत भेदभाव के अन्य रूप भी मौजूद हैं: सार्वजनिक खाने की जगहों पर दलितों के लिए अलग बर्तन, सार्वजनिक कुओं से दलितों को पानी लेने से मनाही, मंदिरों में प्रवेश पर रोक, सार्वजनिक व बंजर भूमि के शौच के लिए इस्तेमाल से रोकना, सार्वजनिक भोजों में दलितों को हिस्सा न लेने देना तथा सामाजिक बहिष्कार। छुआछूत के खिलाफ़ बने कानूनों के बावजूद वह आज भी मौजूद है। ग्रामीण क्षेत्र के कई स्कूलों में दलित बच्चों को ऊंची जाति के बच्चों से अलग बैठाया जाता है। शहरी क्षेत्रों में जातिगत भेदभाव उतना सीधा नहीं है, हालांकि यह कई रूपों में मौजूद है। यह सरकारी नौकरियों तथा उच्च शिक्षण संस्थानों में आरक्षित कोटे को न भरे जाने, कार्यक्षेत्र में भेदभाव, जातिगत टिप्पणियों, मकान मालिकों द्वारा दलितों को मकान किराए पर न दिए जाने, उनके

साथ भोजन करने से कतराने आदि रूपों में मौजूद है। इस तरह, जहां पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया जाति के संबंधों तथा विचारों को कमजोर करती है, वहीं भारतीय शासक वर्ग इसे बनाए रखने, तथा कई मामलों में इसे मजबूत करने वाली भूमिका अदा करते हैं।

सामाजिक उत्पीड़न के एक प्रभावशाली हथियार होने के अलावा जाति को वर्गीय शोषण बढ़ाने तथा उसे और गहण करने के औजार के तौर पर भी इस्तेमाल किया जाता है। यही कारण है कि दलित जातियों के खेतिहर मजदूरों को एक समान काम के लिए ऊंची जातियों के खेत मजदूरों से कम मजदूरी मिलती है। इस तरह जाति सामाजिक अधिशेष के अधिग्रहण को अधिकतम बनाने का ज़रिया बन जाती है। मैला ढोने जैसे सबसे घृणित और सबसे कम मजदूरी वाले काम दलितों के लिए आरक्षित से हैं। केन्द्र के अलावा अधिकतर राज्य सरकारों ने “हाथ से मैला सफाईकर्म-कार्य का निषेध एवं उनका पुनर्वास विधेयक – 2013” को लागू करने में कोई रुचि नहीं दिखाई है। इसका नतीजा है कि अकेले दिल्ली में जनवरी से लेकर अक्टूबर 2018 के बीच हाथों से सीवर साफ़ करते हुए 22 मजदूरों की मौत हो गई।

आरक्षण

संविधान सरकारी नौकरियों तथा शिक्षण संस्थानों में 15 फीसदी एससी आरक्षण तथा 7.5 फीसदी एसटी आरक्षण मुहैया कराता है। सीपीआई(एम) दलितों तथा आदिवासियों के लिए आरक्षण का ऐसे कदम के तौर पर समर्थन करती है जो सदियों से सबसे घृणित रूप के सामाजिक उत्पीड़न तथा भेदभाव झेल रहे तबकों को आंशिक राहत देने का काम करता है। हालांकि, सीपीआई(एम) आरक्षण को सभी समस्याओं की दवा के तौर पर नहीं देखती है। यह तथ्य कि आरक्षण के बावजूद दलित व आदिवासी अलग-अलग रूप के सामाजिक उत्पीड़न तथा भेदभाव आज भी झेल रहे हैं, सीपीआई (एम) की उपरोक्त समझ की पुष्टि करता है। उनके सामाजिक उत्पीड़न का हल ज़मीन के सवाल और आर्थिक सशक्तिकरण से जुड़ा हुआ है। यह पश्चिम बंगाल में हमारे अनुभव से साफ़ होता है, जहां वाम मोर्चे की सरकारों द्वारा व्यापक स्तर पर किए गए भूमि सुधार के

लाभार्थियों में 56 फीसदी एससी/एसटी समुदायों से हैं। उन्हें आर्थिक तौर पर सशक्त करने के अलावा, इसका नतीजा यह भी हुआ है कि जातिगत भेदभाव तथा उत्पीड़न के मामले पश्चिम बंगाल में पूरे देश में सबसे कम हैं। यहां यह भी रेखांकित करने की ज़रूरत है कि आरक्षण शासक वर्गों के लिए दलितों तथा आदिवासियों को अपने राजनीतिक-वैचारिक प्रभुत्व में बनाए रखने तथा अपनी वोट बैंक की राजनीति को आगे बढ़ाने का ज़रिया है।

एक और मुद्दा है, 1990 की मंडल कमिशन की सिफारिशों के आधार पर अन्य पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों तथा शिक्षण संस्थानों में 27 फीसदी आरक्षण दिया जाना। मंडल विरोधी आंदोलन के समय दलितों, आदिवासियों तथा पिछड़ों के खिलाफ़ उन्माद भारतीय समाज में जातिवाद के गहरे असर को दर्शाता है। पार्टी ने पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का इस शर्त पर समर्थन किया था कि उनके भीतर मौजूद समृद्ध तबके यानि कि क्रिमी लेयर को इसके फ़ायदे से दूर रखा जाए। आज़ादी के बाद से सात दशक से अधिक के सामाजिक-आर्थिक घटनाक्रम तथा पूंजीवाद के विकास के चलते जाति व्यवस्था के भीतर वर्गीय विभेदीकरण हुआ है। यह सर्वविदित तथ्य है कि ओबीसी श्रेणी के भीतर बिहार तथा उत्तर प्रदेश में कुर्मी व यादव, कर्नाटक में वोक्कालिंगा तथा तमिलनाडु में थेवर जैसी जातियां हैं, जिनमें ज़मीन व उत्पादन के अन्य साधन की मिल्कियत वाला समृद्ध तबका है, जिसकी राजनीतिक सत्ता के ढांचे में भी अच्छी खासी भागीदारी है। ओबीसी के ये हिस्से अक्सर ज़मींदार व अमीर किसान हैं, जो असल में दलितों का दमन करते हैं। वे आरक्षण के योग्य नहीं हैं। पर, ओबीसी जातियों में बड़ी संख्या उन समुदायों की है जो सामाजिक तौर पर उत्पीड़ित भी हैं तथा ग़रीब भी हैं। ये वो तबके हैं जिन्हें आरक्षण का लाभ मिलना चाहिए।

सीपीआई(एम) से अक्सर पूछा जाता है कि वह ओबीसी की तरह एससी/एसटी समुदायों के लिए आरक्षण में आर्थिक आधार की बात क्यों नहीं करती है? सीपीआई(एम) का मत है कि एससी/एसटी आरक्षण के कार्यान्वयन में किसी भी तरह का आर्थिक आधार सही नहीं है क्योंकि वो

आज भी भारतीय समाज के सबसे अधिक शोषित, सामाजिक तौर पर उत्पीड़ित तथा ऐसे तबकों हैं जिनके साथ सबसे अधिक भेदभाव हो रहा है। एससी तथा एसटी समुदायों को ऐतिहासिक तौर पर संपत्ति और शिक्षा से दूर रखा गया है। यही स्थिति आज भी बड़े पैमाने पर मौजूद है। बाकि जातियों की तुलना में दलितों और आदिवासियों में कहीं कम वर्गीय विभेदीकरण, उत्पादन के साधनों की मिल्कियत तथा शिक्षा का स्तर देखने को मिलता है। एससी तथा एसटी समुदाय सदियों से समाज के सबसे उत्पीड़ित हिस्से भी रहे हैं। गैर-कानूनी होने के बावजूद आज भी उन्हें छूआछूत तथा सामाजिक भेदभाव के अन्य रूपों का सामना करना पड़ता है। एससी तथा एसटी समुदायों के वो हिस्से जो सरकारी नौकरियों में क्लास 1 के पदों पर काम करते हैं उन्हें भी, साथ काम करने वाले ऊंची जाति के लोग कभी बराबर नहीं मानते हैं। इन सभी ठोस परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सीपीआई(एम) एससी तथा एसटी समुदायों के लिए योग्यता की किसी आर्थिक शर्त के बिना, आम आरक्षण का समर्थन करती है।

सीपीआई(एम) इसाई तथा मुसलमान समुदायों के दलितों के लिए नौकरियों में आरक्षण का भी समर्थन करती है। उन्हें भी हिन्दुओं में दलितों की तरह ही भेदभाव और उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। इसलिए बिना किसी आर्थिक शर्त के आरक्षण के लाभ इसाई तथा मुस्लिम दलितों को भी मिलने चाहिए। सिख दलित पहले ही नौकरी तथा शिक्षा में आरक्षण के लिए योग्य हैं।

1990 में जब से ओबीसी आरक्षण के लिए मंडल कमिशन की सिफारिशों को लागू करने के लिए सामने लाया गया, तब से ही सीपीआई(एम) मानती है कि गैर-आरक्षित तबकों में कमजोर और गरीब हिस्सों से आने वालों को नौकरियों तथा शिक्षा में आरक्षण का लाभ देना चाहिए। यह अलग कोटा लाकर तथा संविधान में उचित बदलाव करके किया जाना चाहिए। 1990 के बाद से 29 सालों तक चाहे भाजपा हो या फिर कांग्रेस की केन्द्र सरकारें हों, किसी ने भी इस दिशा में कोई भी कदम नहीं उठाया। जनवरी 2019 में अचानक ही अपने कार्यकाल के अंत में तथा

संसद सत्र के अंतिम दिन, मोदी सरकार सामान्य कैटेगरी के आर्थिक तौर पर कमजोर तबकों के लिए नौकरियों तथा शैक्षणिक संस्थानों में 10 फीसदी आरक्षण के लिए संविधान में संशोधन के लिए बिल ले आई। यह बिल विपक्षी दलों से बिना किसी सलाह के लाया गया। यह कदम जिस जल्दबाजी से और जिस वक्त पर लिया गया, वह इसके ज़रिए पूरी तरह मोदी सरकार के चुनावी फ़ायदे उठाने के इरादों को बेनकाब करता है।

इस बिल में कई खामियां हैं। इनमें सबसे प्रमुख है लाभार्थियों को निर्धारित करने के लिए बनाया गया मानदंड। जो मानदंड बनाया गया है, उसके मुताबिक वे –जिनके सालाना आय 8 लाख रुपये यानिकि 66,667 रुपये प्रतिमाह से कम है या फिर जिनके पास 5 एकड़ से कम कृषि भूमि है या जिनके पास 1,000 वर्ग फुट से कम का रिहाईशी प्लॉट या अधिसूचित नगरपालिकाओं में 100 गज़ से कम तथा गैर-अधिसूचित नगरपालिकाओं में 200 गज़ से कम के रिहाईशी प्लॉट हैं– आरक्षण के लिए योग्य हैं। इसका मलतब है कि सामान्य श्रेणी के 95 फीसदी लोग आरक्षण के दायरे में होंगे। यह गरीब तबकों को आरक्षण देने के पूरे मकसद को ही हराने का काम करेगा।

इसके साथ ही सरकारी क्षेत्र के संस्थानों में निजीकरण और सरकारी नौकरियों में लगभग प्रतिबंध के चलते इस कदम का तब तक कोई मतलब नहीं रह जाता जब तक निजी क्षेत्र को इसके दायरे में नहीं लाया जाता है। ऊंची जातियों में गरीबों के लिए आरक्षण के लाभ देने के पक्ष में अपनी सैद्धांतिक समझ के चलते सीपीआई(एम) ने संसद में इस बिल के समर्थन में अपना मत दिया। पर वह योग्यता के मानदंडों में बदलाव की मांग करती रहेगी जिससे इस कदम के असल लाभार्थी ऊंची जातियों के गरीब रहें, और साथ ही वह यह मांग भी उठाती रहेगी कि हर तरह के आरक्षण–एससी, एसटी, ओबीसी तथा सामान्य– का दायरा निजी क्षेत्र तक बढ़ाया जाए।

गैर-हिन्दू धर्मों तथा दलितों में जाति श्रेणीकरण

मुसलमानों, इसाईयों तथा सिखों में भी जाति मौजूद है। मुसलमानों में तीन जाति समूह स्पष्ट तौर पर दिखते हैं : अशराफ़ (ऊंची जाति के

संभ्रांत), अजलाफ़ (मध्य जाति) तथा अरज़ाल या कमीन (सबसे निचली जाति या फिर दलित)। सिखों में हिन्दू जाति व्यवस्था हू-ब-हू मौजूद है तथा ऊंची जातियां, पिछड़ी जातियां और मज़हबी के तौर पर कहलाई जाने वाली दलित जातियां साफ़ तौर पर देखी जा सकती हैं। यही बात इसाईयों के लिए भी सच है। दलितों के भीतर भी जातिगत श्रेणीकरण मौजूद है।

जाति और जेंडर

जाति के खिलाफ़ लड़ाई का एक और पक्ष जो ध्यान में रखने कि ज़रूरत है वह है जाति तथा लैंगिक उत्पीड़न के बीच का रिश्ता। पारंपरिक जाति व्यवस्था जहां ऊंची जातियों द्वारा निचली जातियों की आधीनता तथा शोषण को वैधता देती है, वहीं वह महिलाओं की दासता को भी ज़ायज़ ठहराती है, जिन्हें समगोत्रीय विवाह के दायरे में 'दे दिया' जाता है। सामाजिक उत्पादन में महिलाओं की अधिक हिस्सेदारी विवाह के मामले में उनकी अधिक स्वतंत्रता का आधार बन सकती है जिससे समगोत्रीय विवाह की व्यवस्था— जो कि जाति व्यवस्था की एक प्रमुख विशिष्टता है— भी कमज़ोर होगी। इस तरह नारी मुक्ति की लड़ाई के आगे बढ़ने से जाति विरोधी संघर्ष को भी बल मिलता है। साथ ही जाति विरोधी संघर्ष के आगे बढ़ने से नारी मुक्ति के संघर्ष को भी बल मिलेगा।



मोदी सरकार के शासन में दलितों की स्थिति

मोदी सरकार तथा विभिन्न राज्य सरकारों—खासकर भाजपा के नेतृत्व वाली—की दलित विरोधी नीतियों की कलाई खोलना आज जाति एवं जातिवाद के खिलाफ़ लड़ाई का अभिन्न अंग होना चाहिए। पिछले चार—साढ़े चार साल में मोदी सरकार के दलित—विरोधी रिकार्ड की प्रमुख विशिष्टताएं यहां दी जा रही हैं:

शिक्षा: उच्च शिक्षण संस्थानों में दलित छात्रों को अपमान का सामना कर पड़ रहा है तथा आंतरिक परीक्षाओं में उन्हें फ़ेल किया जा रहा है। स्थिति की भयावहता उच्च शिक्षण संस्थानों में पढ़ रहे दलित छात्रों की आत्महत्याओं की ऊंची दर से पता चलती है। उच्च शिक्षण संस्थानों में धीरे—धीरे बढ़ते हुए निजीकरण के चलते फ़ीसों में तेज़ बढ़ोतरी तथा स्कॉलरशिप की राशि को देने में देरी या उसे न देने के चलते लाखों दलित छात्रों को अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़ने पर बाध्य होना पड़ रहा है।



एससी सब-प्लान को खत्म करना: मोदी सरकार ने एससी सब-प्लान को खत्म कर दिया है, जो दलितों के लिए जनसंख्या में हिस्सेदारी के अनुपात में बजटीय आवंटन का प्रावधान देता था। इसके बदले विभिन्न विभागों में आवंटन किया जा रहा है जिसका एससी सब-प्लान में आवंटन के मानदंडों से कोई रिश्ता ही नहीं है। इसका नतीजा है कि 16.6 फीसदी की ज़रूरत की तुलना में मोदी सरकार के चार सालों में दलितों के लिए औसत बजटीय आवंटन महज़ 7.59 फीसदी रहा है।

नौकरियां: शिक्षण संस्थानों तथा सरकारी व सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियों में दलितों की पहुंच को कम करने के लिए इस सरकार ने हर संभव कदम उठाए हैं। अनवरत निजीकरण ने आरक्षण के संवैधानिक प्रावधान को बेमानी बना दिया है। मोदी सरकार ने निजी क्षेत्र को आरक्षण के दायरे में लाने से मना कर दिया है। सरकारी व सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थानों में आरक्षित कोटे में भारी संख्या में पद खाली पड़े हुए हैं। इसके साथ ही उनके आय के पारम्परिक साधनों पर हमले जारी हैं। “गौरक्षा” के नाम पर मवेशी व्यापार तथा पशुओं को काटने पर रोक और बूचड़खानों की बंदी के ज़रिए दलितों को उनके पारम्परिक काम से वंचित किया जा रहा है।

ज़मीन: एतिहासिक तौर पर दलितों के पास ज़मीन का कोई अधिकार नहीं रहा है तथा उन्हें इससे वंचित रखा गया है। आज भी दलित सबसे बड़े भूमिहीन समुदाय हैं। अखिल भारतीय स्तर पर 58 फीसदी दलित भूमिहीन हैं। दलितों की ज़मीन की मांग को मोदी सरकार ने नज़रअंदाज किया है। दलितों को ज़मीन वितरित करने के लिए न तो कोई केन्द्रीय पहलकदमी और न ही भाजपा शासित राज्यों में एक भी कार्यक्रम चलाया गया है।

वंचना: 2011 की सामाजिक-आर्थिक तथा जाति जनगणना ने वंचित परिवारों को परिभाषित करने के लिए बहिष्करण के 14 मानदंडों की पहचान की थी। इनमें शामिल थे: किसी भी सदस्य द्वारा आय कर या व्यवसाय कर देना, कोई ऐसा सदस्य होना जो सरकारी कर्मचारी है या फिर जिसकी आय 10,000 रू० प्रतिमाह से अधिक है, 2/3/4 चक्के का वाहन या रेफ्रिजरेटर होना, तीन कमरों के पक्के मकान में रहना और 2.5 एकड़ से

अधिक सिंचाई वाली ज़मीन पर खेती करना। इस सर्वे के तहत बड़े स्तर पर एकत्र किए गए आंकड़ों के आधार पर 73 फीसदी ग्रामीण दलित परिवार वंचित पाए गए। पिछले दशक में मनरेगा के चलते गैर-कृषि मज़दूरी में बढ़ोतरी से जो कुछ आंशिक बेहतरी हुई थी, वह भी अब मनरेगा पर मोदी सरकार के हमलों के चलते खत्म हो गई है।

दलितों पर हमले तथा अत्याचार: मोदी सरकार के तहत दलितों पर निजी सेनाओं तथा राज्य सत्ता की मशीनरी दोनों के द्वारा हमले तेज़ हुए हैं। भीमा कोरेगांव की हिंसा के बाद देश भर में दलितों को झूठे मामलों में फंसाया गया है। दूसरी ओर दलितों पर हिंसा करने के अपराधियों को खुला छोड़ा जा रहा है। महाराष्ट्र की भाजपा-शिव सेना सरकार ने इस हिंसा के मुख्य अपराधियों पर से कम-से-कम 6 केस वापस ले लिए हैं। 2 अप्रैल, 2018 की हड़ताल के बाद पूरे देश में दलितों पर हमलों से भी आरएसएस-भाजपा का दलित विरोधी रूख साफ़ हो जाता है। दलितों को इस हिंसा का सामना करना पड़ा तथा उनकी जानें गईं। लेकिन सारे सबूतों की मौजूदगी के बावजूद हिंसा करने वालों पर कोई कार्रवाई नहीं की जा रही है। दलितों पर हमलों तथा अत्याचार का विरोध करने वालों पर राष्ट्रीय सुरक्षा कानून तथा देशद्रोह के आरोप लादने के मामले लगातार बढ़ रहे हैं।

नवंबर 2017 में नैशनल क्राईम रिकॉर्ड्स ब्यूरो द्वारा जारी किए गए आंकड़ों के मुताबिक 2015 से 2016 तक दलितों पर अपराध के मामलों में 5.5 फीसदी की बढ़ोतरी हुई। इन अपराधों की सबसे अधिक संख्या उन राज्यों में है जहां भाजपा का शासन है या फिर जहां भाजपा हाल तक शासन में थी। 2016 में दलितों पर अत्याचार के कुल मामलों का 25.6 फीसदी उत्तर प्रदेश में हुआ, जो कि देश में सबसे अधिक था। इसके बाद 14 फीसदी मामलों के साथ बिहार तथा 12.6 फीसदी मामलों के साथ राजस्थान में ऐसी घटनाएं सबसे अधिक हुईं। इन मामलों में सज़ा मिलने की दर बेहद कम है तथा केस वर्षों तक कोर्टों में लंबित पड़े रहते हैं।

दलितों में नव-जागरण

पिछले कुछ वर्षों से दलितों में अपने अधिकारों के लिए लड़ने की जनवादी चेतना का विकास हुआ है। यह घटनाक्रम स्वागतयोग्य है। जैसाकि सीपीआई(एम) के पार्टी कार्यक्रम का पैरा 5.10 दर्ज करता है – “दलितों के बीच अपनी हस्ती का अहसास जागना, एक लोकतांत्रिक भावना है जो समाज के सबसे दबे हुए हिस्सों की आकांक्षाओं को व्यक्त करती है।” अप्रैल 2018 में हुए सीपीआई(एम) की 22वीं पार्टी कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव के पैरा 2.43 ने इस दावेदारी की मौजूदा अभिव्यक्ति को सही ही इन शब्दों में व्यक्त किया है: “जातिगत भेदभाव, अपने साथ रोज-रोज होने वाले उत्पीड़न और सरकार की नीतियों के चलते अपने बढ़ते हाशियाकरण के चलते, दलितों के बीच असंतोष तथा गुस्सा बढ़ रहा है। उनका गुस्सा, अत्याचारों व अपमानों के खिलाफ बढ़ते प्रतिरोध में अभिव्यक्त हो रहा है। अंबेडकर भवन के ध्वस्त किए जाने के खिलाफ मुंबई में गोलबंदी, उना में दलितों पर कोड़े लगाए जाने की घटना के खिलाफ बड़े पैमाने पर आंदोलन, हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय के रोहित वेमुला की संस्थागत हत्या के खिलाफ देशव्यापी विरोध आंदोलन, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में दलितों पर हमलों के खिलाफ भीम आर्मी द्वारा की गयी गोलबंदी और भीमा-कोरेगांव की सालगिरह के आयोजन में हिस्सा लेने पहुंचे दलितों पर हमलों के खिलाफ आवाज उठाने के लिए महाराष्ट्र में बंद, एससी/एसटी अत्याचार निवारण कानून के कमजोर किए जाने के खिलाफ अखिल भारतीय बंद, इस बढ़ते प्रतिरोध के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं।” इसके अलावा, हाल के दिनों में विभिन्न राज्यों में दलितों के कई संगठन सामने आए हैं, जिनमें से अधिकतर अंबेडकरवादी हैं। इनमें से

कईयों ने वामपंथी संगठनों के साथ काम करने में रुचि दिखाई है। भीमा कोरेगांव हमलों के बाद संयुक्त प्रतिरोध इस सकारात्मक रुझान को दिखाता है।

जातिगत अपील की सीमाएं

पर, “इसी के साथ, ऐसी शुद्ध जातिवादी दुहाई भी सक्रिय रही है जो, वोट बैंक पुख्ता करने के संकीर्ण हितों के लिए, जातिवादी विभाजन को बनाए रखना चाहती है और इन दलित हिस्सों को साझा जनवादी आंदोलनों से काटने की कोशिश करती है। अनेक जाति-नेता और पूंजीवादी राजनैतिक दलों के कुछ नेता, संकीर्ण चुनावी हितों के लिए जाति के आधार पर ध्रुवीकरण का इस्तेमाल करते हैं और वे सभी जातियों के दबे-पिसे तबकों का साझा आंदोलन विकसित किए जाने के खिलाफ हैं। वे भूमि, मजदूरी और भूस्वामी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष जैसे उन बुनियादी वर्गीय मुद्दों को नजरंदाज करते हैं, जोकि पुरानी समाज व्यवस्था को उलटने की बुनियाद हैं।” (पैरा 5.11, सीपीआई(एम) कार्यक्रम) यह संकीर्ण नजरिया पहचान की राजनीति का प्रतिफल है तथा इसका पुरजोर विरोध किया जाना चाहिए।



जाति के विरोध में कम्युनिस्ट

आज़ादी से पहले के दौर में कम्युनिस्ट पार्टी एकमात्र पार्टी थी जिसने छुआछूत और जाति व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष को कृषि क्रांति तथा साम्राज्यवादी दमन के अंत के साथ जोड़ा था। 1930 में सीपीआई के प्लैटफॉर्म ऑफ एक्शन ने छुआछूत तथा जाति व्यवस्था की भर्त्सना की तथा इनके खात्मे को भारत में सामंतवाद के खात्मे के साथ जोड़ा। इस दस्तावेज में दर्ज किया गया कि, “हमारे देश में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की मौजूदगी के चलते आज भी लाखों गुलाम और दसियों लाख बहिष्कृत अछूत हैं जिनके पास कोई भी अधिकार नहीं है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद, जमींदारी व्यवस्था, प्रतिक्रियावादी जाति व्यवस्था, धार्मिक छल और इतिहास के सभी गुलाम और दास बनाने वाले प्रचलन भारतीय जनता का गला घोट रहे हैं और उनके मुक्ति के रास्ते के रोड़े हैं। इन सबका ही नतीजा है कि भारत में 20वीं सदी में आज भी ऐसे अछूत हैं जिन्हें बाकी लोगों से मिलने का, सार्वजनिक कुओं से पानी पीने या सार्वजनिक स्कूलों में पढ़ने आदि का अधिकार नहीं है।”

इसने कांग्रेस के उस संशोधनवादी रुख को भी इन शब्दों में मज़बूती से खारिज किया, जो इन समस्याओं को महज़ हिन्दू सामाजिक सुधार की समस्याओं के तौर पर देखती थी : “भारतीय जनमानस पर इस शर्मनाक धब्बे को हमेशा के लिए खत्म करने के बजाय गांधी और अन्य कांग्रेसी नेताओं ने उस जाति व्यवस्था को बनाए रखने की बात की, जिसके आधार पर सामाजिक तौर पर अछूतों की मौजूदगी को सही साबित किया जाता है। केवल जाति व्यवस्था का निष्ठुर उन्मूलन, केवल कृषि क्रांति और ब्रिटिश शासन का हिंसक तख्तापलट ही मेहनतकश अछूतों और दासों की

सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और कानूनी मुक्ति का रास्ता साफ करेगा।” आगे यह दस्तावेज कहता है : “भारत की कम्युनिस्ट पार्टी गुलामी, जाति व्यवस्था तथा जातिगत भेदभाव के सभी रूपों के पूर्ण नाश के लिए लड़ती है...भारत की कम्युनिस्ट पार्टी देश के अछूतों और अन्य मेहनतकशों की पूरी बराबरी के लिए लड़ती है।”

लाल झंडा शुरुआत से ही जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ संघर्षों में शामिल रहा है। विभिन्न राज्यों में जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ तथा दलितों के सामाजिक व आर्थिक सशक्तिकरण में कम्युनिस्टों की भूमिका नीचे दी जा रही है :

केरल

केरल में आज़ादी से पहले कम्युनिस्टों के नेतृत्व में जाति-विरोधी आंदोलन मुख्य तौर पर दबाई गई जातियों की बराबरी तथा उनके नागरिक अधिकारों के लिए थे, मसलन शिक्षा का अधिकार, मंदिर प्रवेश तथा सार्वजनिक सड़कों का इस्तेमाल। 20वीं सदी के पहले हिस्से तक केरल में मंदिर तथा मंदिरों के आसपास की सड़कें निचली जातियों के लोगों के इस्तेमाल के लिए उपलब्ध नहीं थीं। इन जंजीरों को श्री नारायण गुरु, अयंकली तथा छतम्पी स्वामिकाल जैसे समाज सुधार के नेताओं के नेतृत्व में चले शक्तिशाली आंदोलनों द्वारा तोड़ा गया। 1924-25 के वायकोम सत्याग्रह, 1931-32 के गुरुवायूर सत्याग्रह, 1931 के कंडोथ संघर्ष तथा 1947-48 के पलियाम संघर्ष जैसे मंदिर प्रवेश के सभी आंदोलनों की मुख्य मांग ही यही थी कि मंदिरों में सभी जातियों को प्रवेश करने दिया जाना चाहिए।

ए.के. गोपालन, जोकि बाद में प्रमुख कम्युनिस्ट नेता बने, गुरुवायूर में सत्याग्रह का नेतृत्व करने वालों में से एक थे। पी. कृष्णा पिल्लई, जोकि 1939 में केरल में कम्युनिस्ट पार्टी के पहले राज्य सचिव बने, गुरुवायूर मंदिर की उस घंटी को बजाने वालों में से थे, जिसे तब तक केवल ब्राह्मण ही बजा सकते थे। कंडोथ में संघर्ष का नेतृत्व ए.के. गोपालन तथा के.ए. केरालियन-जो बाद के वर्षों में प्रमुख कम्युनिस्ट नेता बनकर उभरे- ने

किया। पलियाम संघर्ष का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी ने किया— संघर्ष को संगठित करने वाली पलियाम रोड संघर्ष कमेटी का नेतृत्व कम्युनिस्ट नेता टी.ई. बालन ने किया था। ए.के. गोपालन तथा कृष्णा पिल्लई जैसे कम्युनिस्ट नेताओं को जातिवादी गुंडों के हमलों का भी सामना करना पड़ा था। 1936 में त्रावणकोर के राजा द्वारा मंदिर प्रवेश का अध्यादेश इन लम्बे संघर्षों का ही नतीजा था। तत्कालीन जातिगत भेदभाव के खिलाफ एक और अहम पहलकदमी 1939 का किसान सभा का कोडक्कड सम्मेलन था, जिसमें सभी जातियों के 15000 से अधिक लोग सामूहिक भोज में शामिल हुए थे। कम्युनिस्टों ने इस कार्यक्रम को आयोजित करने में अहम भूमिका निभाई थी।

आजादी के बाद के घटनाक्रम में व्यापक भूमि सुधार की धुरी के इर्दगिर्द विभिन्न आर्थिक मांगें सामने आने लगीं। सही मायने में भूमि सुधार 1957-59 के बीच ई.एम.एस. नम्बूदिरिपाद के नेतृत्व में बनी पहली कम्युनिस्ट सरकार द्वारा किए गए। 1957 से लेकर 1993 के बीच केरल में कम्युनिस्टों के नेतृत्व वाली राज्य सरकारों द्वारा किए गए भूमि सुधारों के तहत 28 लाख बटाईदारों को ज़मीन का मालिकाना हक दिया गया तथा 14.82 लाख एकड़ ज़मीन उन्हें सौंपी गई। इसके अधिकतर लाभार्थी पिछड़े एड़वा समुदाय से थे। सीलिंग से ऊपर की ज़मीन में से 5,28,000 परिवारों को घर बनाने के लिए 10 सेंट तक की ज़मीनें दी गईं। इन लाभार्थियों में से अधिकतर अनुसूचित जातियों से थे। इस कदम ने जेन्मी जमींदारों— जो अधिकतर ऊंची जातियों के ब्राह्मण थे— की कमर तोड़ कर रख दी और निचली जातियों के लिए ज़मीन उपलब्ध करायी। यह आगे चलकर मेहनतकश जनसंख्या— जिनमें अधिकतर निचली जातियों के थे— के लिए बराबर मजदूरी, बेहतर सरकारी शिक्षा, स्वास्थ्य तथा राशन व्यवस्था की मांग का आधार बना। सीलिंग से ऊपर की ज़मीन पर कब्जे का संघर्ष राज्य में किसान सभा ने 1970 के दशक तक चलाया, जिसका नेतृत्व ए. के. गोपालन ने आगे बढ़कर किया।

1974 में एसटी समुदाय के लिए ट्राईबल सब-प्लान तथा 1979 में एससी समुदायों के लिए स्पेशल कम्पोनेंट प्लान इन समुदायों के सर्वांगीण

सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए शुरू की गई दो प्रमुख रणनीतियां थीं। राज्य में वाम नेतृत्व वाली सरकारों द्वारा एससीपी तथा टीएसपी के तहत आवंटन इन समुदायों की जनसंख्या में हिस्सेदारी से अधिक रहा है। 2017-18 में ये आंकड़े कुल बजटीय आवंटन के 9.8 तथा 2.8 फीसदी थे, जबकि राज्य में एससी तथा एसटी समुदायों की जनसंख्या में हिस्सेदारी क्रमशः 9.1 तथा 1.45 फीसदी है। यह तब है जब पिछले 3 सालों में केन्द्र में मोदी सरकार ने लगातार जनसंख्या में हिस्सेदारी से बेहद कम आवंटन किया है तथा 2017-18 से विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं के लिए समर्पित आवंटन बंद कर दी है। वाम तथा जनवादी मोर्चे की सरकारों ने न केवल एससी-एसटी समुदायों के लिए प्लान फंड के 'काल्पनिक' खर्च की कार्यप्रणाली पर रोक लगाई है, बल्कि राज्य में पंचायती राज्य व्यवस्था के तहत व्यक्तिगत लाभार्थियों तक योजनाओं के लाभ पहुंचाने में भी सफलता पाई है। योजनाओं पर नज़र रखने के लिए एससी-एसटी समुदायों से प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं की नियुक्ति के जरिए यह सुनिश्चित किया गया कि योजनाओं में आवंटित राशि सही तरीके से खर्च की जाए।

राज्य के इतिहास में पहली बार 2017 में वाम तथा जनवादी मोर्चे की सरकार ने ट्रावनकोर देवसवोम बोर्ड के मंदिरों में 6 दलितों समेत कुल 36 गैर-ब्राह्मणों की नियुक्ति पुजारियों के तौर पर की। सरकार ने पुजारियों के लिए एससी/एसटी/ओबीसी के आरक्षणों को सख्ती से लागू करने के दिशानिर्देश दिए हैं। यह दलितों तथा पिछड़ी जातियों की लंबे समय से मांग रही है। असल में पिछड़ी जातियों से कुल नियुक्तियां कोटे से अधिक रहीं, क्योंकि इनमें से कुछ जनरल कैटेगरी की मेरिट लिस्ट में आने में सफल रहे। एलडीएफ सरकार ने संघ परिवार के कुछ करीबी कट्टर हिस्सों द्वारा दलित पुजारियों की नियुक्ति के कड़े प्रतिरोध का सफलतापूर्वक सामना किया।

तेलुगु भाषी क्षेत्र

आन्ध्र, तेलंगाना और रायलसीमा के तेलुगु भाषी क्षेत्रों में शुरूआत से ही जातिगत भेदभाव के खिलाफ संघर्ष कम्युनिस्ट आंदोलन का अहम

हिस्सा था। गांवों में वर्ग संघर्ष संगठित करने वाले काडरों के लिए जातिगत भेदभाव तथा उत्पीड़न के विरोध का प्रश्न जनता को संगठित करने के काम का अभिन्न हिस्सा था। आंध्र के क्षेत्र में गांधी के हरिजन उत्थान के नारे का काफी असर था। इसके नतीजे के तौर पर राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा ले रहे नौजवानों ने दलितों के बीच काम करने का फैसला किया। पी. सुन्दरैया, जो बाद में सीपीआई(एम) के पहले महासचिव बने, इन हज़ारों नौजवानों में से एक थे। अपनी आत्मकथा में उन्होंने जातिगत भेदभाव का सामना करने के लिए अपनाए गए कुछ तरीकों का वर्णन किया है। इनमें दलित व गैर-दलित जातियों के खेतिहर मज़दूरों के संयुक्त भोज तथा खेतिहर दलितों के उन बच्चों के लिए स्कूल चलाने जैसे कदम शामिल थे, जिन्हें गांव के प्रमुख स्कूलों में पढ़ने नहीं दिया जाता था।

कम्युनिस्ट आंदोलन के विस्तार के साथ ही जाति विरोधी आंदोलन ने गांधीवादी रुख से हटकर संघर्ष का रास्ता अपनाया। मंदिरों में प्रवेश, कुओं तथा तालाबों से पानी लेने और पीने, शम्सान भूमि पर अधिकार तथा दलित बच्चों के गांव के स्कूलों में प्रवेश जैसे कई सवाल पर अनगिनत संघर्ष हुए। इन सभी संघर्षों में कम्युनिस्ट सबसे अगली कतारों में शामिल थे। इनमें से कई कम्युनिस्ट जो ऊंची जातियों से आते थे, उन्हें अपनी जातियों तथा परिवारों से निष्कासन का दण्ड झेलना पड़ा।

कम्युनिस्ट, दलितों तथा अन्य कमज़ोर तबकों को शिक्षित करने में सबसे आगे थे। खेतिहर मज़दूरों की लामबंदी तथा उनके संघर्ष विकसित करने की प्रक्रिया में उन्होंने प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र स्थापित किए। कम्युनिस्टों ने राज्य में दलित छात्रों के लिए छात्रावास स्थापित करने में भी पहलकदमी की। स्वतंत्रता आंदोलन तथा कम्युनिस्ट आंदोलन के कई नेता इन छात्रावासों से निकले।

1930 और 1940 के दशकों में कम्युनिस्टों ने इन संघर्षों को विकसित करने के लिए दलित टोलों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। व्यापक स्तर पर मज़दूर सुरक्षा समितियां स्थापित की गईं। मज़दूरी के संघर्षों में इन समितियों ने अहम भूमिका निभाई। ये कुछ तरीके थे जिनके द्वारा कम्युनिस्टों ने दलितों को कम्युनिस्ट आंदोलन की तरफ आकर्षित किया।

दलितों के बीच से कई नेता भी उभर कर सामने आए। उन दिनों कांग्रेस कम्युनिस्टों को 'दलित पार्टी' कहकर चिढ़ाया करती थी।

1946-51 के बीच हैदराबाद के नवाब के दमनकारी शासन तथा सामंती ज़मींदारों के खिलाफ चले तेलंगाना जन सशस्त्र संघर्ष में कम्युनिस्टों ने निर्णायक भूमिका निभाई। 16,000 वर्ग मील क्षेत्रफल में फैले 30 लाख की कुल जनसंख्या वाले 3000 गांवों को सामंतों की दासता से मुक्त करा लिया गया था। 10 लाख एकड़ क्षेत्रफल की ज़मींदारों की ज़मीन तथा बंजर भूमि खेतिहर मज़दूरों व गरीब किसानों में बांटी गई, जिनका बड़ा हिस्सा दलित व पिछड़ी जातियों का था। वेत्ती यानि कि बेगार मज़दूरी के साथ-साथ छुआछूत को पूरी तरह से समाप्त कर दिया गया था। छुआछूत का सामना करना आसान हो गया क्योंकि तेलंगाना की जनता ने साथ मिलकर काम किया और लड़ाई लड़ी। गुरिल्ला समूहों में बराबरी और परस्पर सम्मान का पालन सख्ती से किया जाता था। ब्याज के ऊंचे दर या तो कम कर दिए गए या फिर पूरी तरह से समाप्त कर दिए गए। खेती के औज़ार ग्रामीण गरीबों के बीच बांटे गए, खेतिहर मज़दूरों की उचित मज़दूरी सुनिश्चित की गई तथा गैरकानूनी उगाही व ज़मीन से बेदखली पर लगाम लगाई गई।

इस एतिहासिक संघर्ष में 4000 से अधिक कम्युनिस्ट व किसान लड़ाके पहले निज़ाम के रज़ाकारों के हाथों और बाद में भारतीय सेना के हाथों शहीद हुए। 3-4 साल तक दस हज़ार कम्युनिस्ट लड़ाकों को बंदी कैम्पों में कैद रखा गया।

जनता के बीच कम्युनिस्टों के काम का असर चुनावों में भी देखने को मिला। आंध्र क्षेत्र में 1951-52 के चुनावों में कम्युनिस्टों को 22 फीसदी वोट प्राप्त हुए। दलितों तथा खेतिहर मज़दूरों ने भारी संख्या में कम्युनिस्टों के लिए वोट किया। पर, 1955 के आंध्र के चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी की पराजय तथा वैचारिक विवादों व पार्टी में टूट का तेलुगु भाषी क्षेत्र में कम्युनिस्ट आंदोलन पर प्रतिकूल असर पड़ा। इसका सामाजिक न्याय के संघर्ष पर भी नकारात्मक असर पड़ा। हालांकि कम्युनिस्टों के नेतृत्व में जाति विरोधी छोटे संघर्ष चलाए जाते रहे, पर 1980 के दशक से ही

सामाजिक न्याय के सवाल को व्यापक स्तर पर उठाया गया जब आंध्र और तेलंगाना के क्षेत्रों में दलितों पर हमले तेज़ हुए।

दलितों के आत्म-सम्मान आंदोलन, उत्पीड़न के खिलाफ़, आरक्षण की रक्षा में तथा अधिक हिस्सेदारी के संघर्षों में कम्युनिस्टों की हिस्सेदारी बढ़ी। 1998-99 से आंदोलन निरंतरता के साथ चल रहा है। दलितों द्वारा झेले जा रहे जातिगत भेदभाव के विभिन्न रूपों तथा उनकी स्थिति का पता करने के लिए अक्टूबर 1999 में 11,000 दलित टोलों में 15 दिनों तक वृहद स्तर पर सर्वेक्षण किया गया।

2001-03 के बीच पूरे तत्कालीन आंध्र प्रदेश में वैधानिक एससी तथा एसटी कमिशन के बनाए जाने के लिए आंदोलन चलाया गया। इस आंदोलन के नतीजे के तौर पर कमिशन की नियुक्ति हुई। 2011-12 में एससी/एसटी सब प्लान को लागू करने के लिए व्यापक संघर्ष चलाया गया। मार्च 2012 में एक विधेयक के ज़रिए एससी/एसटी सब-प्लान को वैधानिक दर्जा दिया गया। जातिगत भेदभाव के खिलाफ़ संघर्षों को तेज़ करने के लिए 2007 में एक महीने से अधिक तक ज़िला स्तर पर सीपीआई(एम) तथा इसके नेतृत्व वाले जनसंगठनों द्वारा पदयात्रा व साईकल यात्रा आयोजित किए गए। इनके तहत 8336 गांवों तक पहुंचा गया और 41,000 किलोमीटर का सफ़र तय किया गया। इसके अगले चरण में सैकड़ों गांवों में जातिगत भेदभाव के खिलाफ़ प्रतिरोध आंदोलन आयोजित किए गए। आंध्र में कुला विवाक्शा पोरटा समिथि (केवीपीएस) – जातिगत भेदभाव के खिलाफ़ संघर्ष कमेटी- ने पिछले वर्षों में मंदिर प्रवेश के प्रति सरकारी नीति, कब्रिस्तानों के लिए ज़मीन, 2-ग्लास व्यवस्था के खात्मे जैसे कई मुद्दों पर लाखों लोगों को लामबंद किया है। इसी का नतीजा है कि वही जातिगत नेता जो पहले कम्युनिस्टों की इस आधार पर आलोचना किया करते थे कि वे सामाजिक उत्पीड़न के मुद्दे को नहीं उठाते हैं, अब इन पहलकदमियों की तारीफ़ करने लगे तथा जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ़ संयुक्त संघर्षों का हिस्सा बनने लगे।

तमिलनाडु

तमिलनाडु में दलितों के जातीय व वर्गीय शोषण के खिलाफ़ कम्युनिस्टों ने कई संघर्षों का नेतृत्व किया है। 1968 में नागपट्टिनम ज़िले का किझवेनमनी संघर्ष, जहां 44 दलित खेतिहर मज़दूरों तथा उनके बच्चों को ज़मींदारों ने शहीद कर दिया था, इन संघर्षों का सबसे बेहतरीन उदाहरण है। किझवेनमनी के दलित खेतिहर मज़दूर ज़मींदारों के गुलाम से थे तथा उन्हें पूरे परिवार समेत ज़मींदार के लिए औने-पौने दाम पर मज़दूरी करनी पड़ती थी। उन्हें छुआछूत, बेगार, सार्वजनिक कुओं तथा चाय की दुकानों के इस्तेमाल पर रोक, कोड़े की मार जैसे दण्ड, जबरन गोबर खिलाना, महिलाओं का यौन शोषण, शैक्षणिक सुविधाओं से वंचित रखना तथा मंदिर जैसी सार्वजनिक जगहों में प्रवेश पर रोक आदि भेदभाव तथा उत्पीड़न का सामना करना पड़ता था। दलितों को बिना जूते-चप्पल के चलना पड़ता था तथा दलित महिलाओं को अपने स्तन ढकने का अधिकार भी नहीं हासिल था। गुलाम सी स्थिति में उन्हें शोषित दिहाड़ी मज़दूर के तौर पर काम करना पड़ता था, जिनका ज़मीन पर कोई अधिकार नहीं था। यह वह दमनकारी व्यवस्था है जिसे सीपीआई(एम) तथा खेतिहर मज़दूर यूनियन ने खेतिहर मज़दूरों को संगठित करके खुली चुनौती दी व सामंती ज़मींदारी की जड़ों को हिलाकर रख दिया। ज़मींदारों ने इसकी प्रतिक्रिया में पुलिस तथा उसके राजनीतिक आका, डीएमके की सक्रिय भागेदारी के ज़रिए भीषण नरसंहार को अंजाम दिया। किझवेनमनी संघर्ष तथा इसमें गई इंसानी जानें व्यर्थ नहीं गईं। नरसंहार के बाद सीपीआई(एम) तथा खेतिहर मज़दूर यूनियन के व्यापक संघर्षों के चलते शासक वर्गों को मज़दूरी बढ़ानी पड़ी तथा भूमिहीन दलित परिवारों को ज़मीन देनी पड़ी, जिसके फलस्वरूप वे छोटी जोत की ज़मीन की मिल्कियत वाले किसान बन गए।

लाल झंडे से उन्हें केवल ज़मीन और बेहतर मज़दूरी ही नहीं मिली, इसने छुआछूत, बेगार, दलित महिलाओं के यौन शोषण तथा सामाजिक उत्पीड़न के अन्य अमानवीय रूपों पर रोक लगाकर उन्हें सम्मान भी सुनिश्चित कराया। इस पूरी प्रक्रिया में कम्युनिस्ट पार्टी परैयान कत्ची यानि कि 'अछूतों की पार्टी' के रूप में जानी जाने लगी।

तमिलनाडु ने एतिहासिक वचाथी संघर्ष भी देखा, जिसमें किसान सभा तथा तमिलनाडु ट्राईबल एसोसिएशन ने लगभग 2 दशकों तक 18 आदिवासी महिलाओं को न्याय दिलाने की लड़ाई लड़ी, जिनके साथ वन अधिकारियों ने बलात्कार किया था। इस संघर्ष के चलते 269 लोगों को सज़ा हुई।

तमिलनाडु में कई जगहों पर पुलिस दमन के मामले सामने आते रहे, जिसमें पुलिस दलित गांवों में घुसकर औरतों, बच्चों तथा बूढ़ों का क्रूर उत्पीड़न किया करती थी। उनके घरों तथा सामानों को निर्ममता के साथ तहसनहस किया जाता था तथा औरतों समेत सैकड़ों दलितों को झूठे मामलों में जेल की सलाखों के पीछे डाला जाता था। कोडिअनकुलम, नलुमूलईकिनारु तथा संकरालिंगपुरम जैसे दलित गांव पुलिस अत्याचार के पर्यायवाची बन गए। जब मनचोलाई चाय बागान के मज़दूर— जिनमें अधिकतर दलित थे— अपनी मांगें उठाने के लिए अपने परिवारों के साथ तिरुनिलवेली कलक्टरी पर जमा हुए, तब पुलिस ने उनपर बर्बर लाठीचार्ज करते हुए ताम्रापरनी नदी तक दौड़ाया तथा बच्चों समेत 17 लोगों की हत्या कर दी। ज़िले के सीपीआई(एम) सचिव, पलानी के सिर में लाठीचार्ज से गंभीर चोटें आईं तथा बड़ी मुश्किल से उनकी जान बची। चाय बागान मज़दूरों पर पुलिसिया दमन के खिलाफ़ पार्टी तथा जनसंगठनों ने कई संघर्ष आयोजित किए। उन्होंने नलुमूलईकिनारु में दलितों पर पुलिस ज़्यादतियों के मामले को भी उठाया। इस मामले को अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति (एडवा) ने सुप्रीम कोर्ट में उठाया तथा सुप्रीम कोर्ट के फैसले के आधार पर पीड़ित दलितों को 23 लाख रुपयों का हर्जाना दिया गया व डीआईजी, एसपी, डीएसपी और सब-इंस्पेक्टर समेत 82 पुलिस अधिकारियों को निलंबित किया गया व दण्ड दिया गया।

गुडुक्कोट्टाई ज़िले के 27 गांवों में एडवा की राज्य इकाई ने पहली बार 2-ग्लास व्यवस्था पर सर्वे किया। सर्वे में पाया गया कि 1 गांव के अलावा सभी गांवों में 2-ग्लास व्यवस्था प्रचलन में थी तथा दलितों और खेतिहर मज़दूरों को उन ग्लासों का इस्तेमाल नहीं करने दिया जाता था जिसमें ऊंची जाति के लोग चाय पीते थे। ज़मींदारों के कड़े विरोध के

बावजूद संगठन ने इस प्रचलन के खिलाफ़ सीधी कार्रवाई की।

पार्टी तथा किसान सभा, एडवा व खेतिहर मज़दूर यूनियन जैसे जन संगठनों ने उन गांवों में सीधी कार्रवाई की योजना बनाई जहां छुआछूत प्रचलन में थी। विभिन्न ज़िलों में ऐसी कार्रवाई आयोजित की गई। जिन चाय की दुकानों में 2-ग्लास व्यवस्था का प्रचलन था वहां धरने आयोजित किए गए। दलितों को उन मंदिरों में ले जाया गया जहां उनका प्रवेश वर्जित था तथा गांवों के सार्वजनिक कुओं और नलों से पानी निकालने के लिए उन्हें लामबंद किया गया। इसके अलावा उन्हें जूते-चप्पल पहनकर सड़कों पर चलने और साईकल चलाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। ये सीधी कार्रवाईयां ऊंची जातियों तथा असामाजिक तत्वों के कड़े प्रतिरोध का सामना करते हुए की गई।

इसके अलावा सीपीआई(एम) की मदद से 2007 में बने तमिलनाडु अनटचेबिलिटी इराडिकेशन फ़ोरम (टीएनयूईएफ) ने 2-ग्लास व्यवस्था के खात्मे, दलितों को बाल काटने का अधिकार, सार्वजनिक रास्तों का इस्तेमाल, कपड़े धोने की सार्वजनिक जगहों का इस्तेमाल तथा सार्वजनिक शौचालय व शम्सान भूमि के इस्तेमाल जैसे मुद्दों पर सफल संघर्ष किए हैं। टीएनयूईएफ का एक और अहम संघर्ष मदुरै जिले के उथापुरम में जाति की दीवार को तोड़ना था, जो कि पुलिस के दमन और ऊंची जातियों के कठोर प्रतिरोध के बावजूद किया गया।

कर्नाटक

कर्नाटक में सीपीआई(एम) ने अन्य दलित संगठनों के साथ मिलकर पंकथी बेधा – मंदिरों में खाना परोसे जाने के वक्त 'ऊंची जातियों' और 'निचली जातियों' के लिए अलग-अलग लाईनों का प्रचलन— और मड़े मड़े स्नाना— ऊंची जातियों के लोग जिस पत्तल में खाना खाते हैं, उन पर 'निचली जाति' के श्रद्धालुओं के लोटने की प्रथा— के खिलाफ़ संघर्ष आयोजित किए। इस संघर्ष में चिक्कबल्लापुर ज़िले में मड़े मड़े स्नाना पर रोक जैसी कुछ सफलताएं मिली हैं। राज्य में 30 लाख बगैर हुकुम् किसानों की बेदखली के खिलाफ़ चलाये गए बड़े और निरंतर संघर्ष के

कारण इन किसानों, जिनमें अधिकतर दलित और आदिवासी हैं, के भूमि अधिकारों को सुरक्षित रखने में सफलता मिली है। देवदासियों की मुक्ति के लिए देवदासी विमोचना संघ इस दमनकारी व्यवस्था के खिलाफ लगातार लड़ रहा है। हसन जिले में जाति उत्पीड़न और मंदिर प्रवेश के लिए सफल संघर्ष हुए हैं। सीपीआई(एम) के नेतृत्व में भूमिहीनों द्वारा ज़मीन पर कब्ज़ा भी किया गया है। इन भूमिहीनों में से अधिकतर दलित हैं।

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र ने भी जाति उत्पीड़न पर कई संघर्ष देखे हैं। मार्च 1927 में रायगढ़ ज़िले के महाड़ में चवदार झील का संघर्ष जिसमें डॉ० अम्बेडकर ने हजारों दलितों को झील से पानी पीने के लिए लामबंद किया तथा महाड़ में ही 25 दिसंबर, 1927 को मनुस्मृति का जलाना, राज्य में छुआछूत तथा घृणित जाति व्यवस्था के खिलाफ डॉ० अम्बेडकर द्वारा किए गए पहले दो संघर्ष थे। इन दोनों ही संघर्षों में आर.बी. मोरे प्रमुख संगठनकर्त्ता थे, जो आगे चलकर महाराष्ट्र में प्रमुख कम्युनिस्ट नेता बनकर उभरे।

कम्युनिस्टों ने 1930 में नाशिक के कलाराम मंदिर में दलितों के प्रवेश के आंदोलन का समर्थन किया, जिसका नेतृत्व डॉ० अम्बेडकर ने किया था। आर.बी. मोरे तथा एक अन्य कम्युनिस्ट, बाबूराव गराड ने 1931 के कलाराम मंदिर सत्याग्रह में कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ताओं के एक जत्थे का नेतृत्व किया।

कम्युनिस्ट तथा उनके गिरनी कामगार यूनियन (मिल वर्कर्स यूनियन) ने मुंबई के बीडीडी चॉल में अलग-अलग समुदायों के अलग-अलग नलों की व्यवस्था के खिलाफ आंदोलन चलाया तथा सभी समुदायों व जातियों के लिए एक समान सार्वजनिक नलों की मांग की। लम्बे संघर्षों के बाद यह मांग मान ली गई। 1934 के मिल मज़दूरों की आम हड़ताल की मांगों में से एक महत्वपूर्ण मांग, दलितों को मिलों के बुनाई विभाग में काम करने देने की थी। वक्त के साथ यह मांग मान ली गई।

1945-47 में ज़मींदारी तथा सबसे घृणित किस्म के सामंतवाद के खिलाफ एआईकेएस के बैनर तले थाणे ज़िले में उभरे आदिवासी विद्रोह का नेतृत्व महाराष्ट्र के दो प्रमुख कम्युनिस्ट नेता, शामराव और गोदावरी

पारूलकर ने किया। ज़िले की प्रमुख जनजाति वर्ली के नाम पर इस विद्रोह को वर्ली आदिवासी विद्रोह के नाम से जाना जाने लगा। इस विद्रोह के कारण बंधुआ मज़दूरी तथा उससे जुड़े ज़मींदारों द्वारा आदिवासी महिलाओं के यौन शोषण व शादी-दास बनाने जैसे घृणित प्रचलनों को मिटाने में सफलता मिली। बाद के दशकों में थाणे जिले में दृढ़ संघर्षों के चलते आदिवासियों के लिए भूमि अधिकार तथा बेहतर मज़दूरी सुनिश्चित की जा सकी।

1959 और 1964 में पूरे राज्य में कम्युनिस्ट पार्टी तथा आरपीआई द्वारा व्यापक स्तर पर भूमिहीनों का सत्याग्रह आयोजित किया गया। इस संघर्ष में हजारों किसानों तथा खेतिहर मज़दूरों—जिसमें अधिकतर दलित और आदिवासी थे—ने सक्रिय तौर पर हिस्सा लिया और गिरफ्तारियां दीं। इस संघर्ष ने कांग्रेस की राज्य सरकार को भूमिहीनों को कुछ ज़मीन देने पर बाध्य किया।

सांस्कृतिक नवजागरण दलित मुक्ति आंदोलन का अहम हिस्सा था। कम्युनिस्ट कवि और लेखक, अन्ना भाऊ साठे, जो खुद दलित थे, ने जाति की कुत्सित प्रथा की तरफ ध्यान खींचने के लिए कई नाटक लिखे और उनका मंचन किया। दलित समुदाय से कई सांस्कृतिक तथा साहित्यिक शख्सियतें कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुईं। इनमें सबसे प्रमुख शाहिर अन्नाभाऊ साठे, *दलित साहित्य* नामक पत्रिका के संस्थापक बाबूराव बगुल तथा प्रगतिशील कवि शंकर शैलेन्द्र शामिल थे। दलित साहित्यिक नवजागरण में 1970 के दशक में प्रखरता देखने को मिली। इस दौर में नारायण सुर्वे तथा बाबूराव बगुल जैसे कम्युनिस्ट साहित्यकारों ने असरदार कविता तथा काल्पनिक कहानियां लिखीं। ये दोनों ही दलित थे।

1970 के दशक में कम्युनिस्टों ने महाराष्ट्र में दलित पैथर्स द्वारा शुरू किए गए तथा आयोजित विभिन्न संघर्षों में हिस्सा लिया। दलित पैथर्स के घोषणापत्र का स्पष्ट वामपंथी दृष्टिकोण था। दलित पैथर के एक कार्यकर्ता भागवत जाधव की हत्या शिवसेना ने की। इस नृशंस हत्या के खिलाफ कम्युनिस्ट भारी संख्या में सड़कों पर उतरे।

1970 के दशक के आखिरी हिस्से तथा 1980 के दशक में मराठवाड़ा

विश्वविद्यालय का नाम डॉ० बाबासाहब अंबेडकर पर रखने के मुद्दे पर पूरे राज्य में बखेड़ा हुआ। इस कदम का ऊंची जाति के तत्वों ने तीव्र विरोध किया और मराठवाड़ा में दलितों के खिलाफ हमले भी किए गए। विश्वविद्यालय का नाम डॉ० अंबेडकर पर रखने के संघर्ष में कम्युनिस्ट सबसे अगली कतार में शामिल थे तथा मुंबई, औरंगाबाद व मराठवाड़ा के अन्य जगहों पर सीपीआई(एम) के कार्यकर्त्ताओं ने जुझारू प्रदर्शन किए, जिसके बाद उनकी गिरफ्तारियां हुईं। आखिरकार शरद पवार के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार ने 1994 में विश्वविद्यालय का नाम बदला।

पिछले एक दशक में खैरलांजी, सोनाई, खर्दा, भीमा कोरेगांव तथा राज्य में अन्य जगहों में दलितों पर अत्याचार की घटनाओं के खिलाफ विरोध कार्रवाईयों में कम्युनिस्टों ने हिस्सा लिया है। 1 जनवरी 2018 को भीमा कोरेगांव में साम्प्रदायिक हिन्दुत्ववादी तत्वों द्वारा दलितों पर बड़े पैमाने पर हमलों के खिलाफ प्रकाश अंबेडकर के नेतृत्व वाले बीआरपी तथा कम्युनिस्टों ने तुरंत ही मिलकर 3 जनवरी, यानिकि सावित्रीबाई फूले के जन्मदिन पर विशाल महाराष्ट्र बंद का आयोजन किया। पर, भाजपा नेतृत्व वाले राज्य सरकार ने इस हिंसा के प्रमुख आरोपी आरएसएस नेता मनोहर सम्बाजी भीड़े को बचकर निकल जाने दिया। दूसरी ओर, सरकार ने सैकड़ों दलितों पर मुकदमे डाल दिए हैं और अब कई मानव अधिकार कार्यकर्त्ताओं को माओवादी होने के आरोप में निशाना बना रही है तथा कईयों को गिरफ्तार भी किया है।

2013 में सीपीआई(एम) की महाराष्ट्र राज्य कमेटी ने एक राज्य व्यापी जाति विरोधी मंच गठित करने के लिए पहलकदमी की। जाति अंता संघर्ष समिति नामक इस मंच का नागपुर में आयोजित राज्य सम्मेलन में गठन किया गया। इस मंच ने जातिगत अत्याचारों तथा भेदभाव के कई मुद्दे उठाए हैं।

बिहार

बिहार में सीपीआई(एम) और किसान सभा ने दलितों के सामाजिक और आर्थिक शोषण के खिलाफ तथा ज़मींदारों द्वारा गैर-कानूनी तौर पर

दखल की हुई भूमि पर कब्जे के लिए कई संघर्षों का नेतृत्व किया है। इन संघर्षों के कुछ ज़िला-वार ब्यौरे यहां दिए गए हैं :

भागलपुर: 1970 के दशक के शुरुआती दौर में सीपीआई(एम) के नेतृत्व में उत्तरी भागलपुर के नौगछिया इलाके के गंगा किनारे रहनेवाले गंगौत जाति के किसानों ने सामाजिक एवं आर्थिक उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष का बिगुल फूंक दिया। ये आमतौर पर भूमिहार भूस्वामियों के बटाईदार एवं खेत मज़दूर के रूप में कार्यरत थे। आर्थिक शोषण के साथ-साथ जातिगत उत्पीड़न, अपमान एवं इन अत्यन्त पिछड़ी जातियों की औरतों की इज़्जत-आबरू से खिलवाड़, विद्रोह के प्रमुख कारण थे।

दियारा में ज़मींदारों के द्वारा लठैतों के लिये बनाये गये घरों पर कब्ज़ा कर लिया गया और किसानों व खेत मज़दूरों ने फसलों को काटकर उनपर और ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया। सामंती ज़मींदारों की तरफ से इस संघर्ष के खिलाफ सवर्ण जाति के गुरीबों को लामबंद करने की कोशिशें सफल नहीं हुईं। ऐसे ही एक संघर्ष के दौरान सीपीआई(एम) के कार्यकर्त्ता अम्बिका मंडल की सामंती हथियारबंद गिरोह द्वारा हत्या कर दी गई।

लंबे दौर तक चले इस संघर्ष के कारण अत्यंत पिछड़ी जातियों के प्रति सवर्ण जातियों के आचरण में बड़ा बदलाव आया है। औरतों और खेत मज़दूरों पर होनेवाले जुल्म में कमी आ गई तथा किसानों ने भी ज़मीन पर अपना अधिकार हासिल किया।

बेगूसराय: बेगूसराय का बछवारा प्रखंड सामंती जुल्म एवं अत्याचार के लिए कुख्यात था। 1970 के दशक के अंतिम हिस्से में वहाँ सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ सीपीआई(एम) के नेतृत्व में कई जुझारू संघर्ष लड़े गए। इन संघर्षों के दौरान कई साथी शहीद हो गए, जिनकी याद में यहां हर साल 10 दिनों तक शहीद मेला का आयोजन किया जाता है।

बरौनी के नोनपुर पखटौल क्षेत्र में भी सामाजिक एवं जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ जुझारू संघर्ष हुए जिसमें राजेन्द्र साहनी, रामविलास साहनी तथा रामपुकार महतो शहीद हुए। इस संघर्ष में मल्लाह एवं अन्य पिछड़ी जातियों की नेतृत्वकारी भूमिका थी। इस इलाके में होली के दौरान

उच्च जातियों के लोग, पिछड़ी जातियों के घरों में घुसकर रंग डालने के नाम पर महिलाओं के साथ यौन उत्पीड़न करते थे। पार्टी ने इसका प्रतिकार किया और इस तरह की घृणित प्रथा पर रोक लगाने में सफल हुई।

समस्तीपुर: समस्तीपुर का विभूतिपुर प्रखंड सीपीआई(एम) के आंदोलन का केन्द्र है। यह इलाका सामंतों के जुल्म का गढ़ भी रहा है। सामाजिक भेदभाव, दलितों के खिलाफ दमन, महिलाओं के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती आदि शोषण के विभिन्न रूपों से पूरा इलाका ग्रस्त था। सीपीआई(एम) ने इन तमाम सामाजिक एवं जातिगत उत्पीड़नों के खिलाफ संघर्षों की अगुवाई की। उदय शंकर सिंह, बीरेन्द्र सिंह, गुणेश्वर सिंह, रामनाथ महतो सहित दर्जनों साथी इन संघर्षों में शहीद हुए। आज सीपीआई(एम) के खिलाफ पुराने एवं नव-सामंत एकजुट हुए हैं और इसने वर्ग संघर्ष का रूप ले लिया है। हाल में एक दलित लड़की एवं ऊँची जाति के लड़के के बीच विवाह के बाद जातिगत तनाव उत्पन्न हो गया। पार्टी ने इस मामले पर त्वरित कार्रवाई की एवं लम्बे संघर्ष के बाद नव-विवाहित जोड़े को एक साथ करने में सफल हुई।

दरभंगा: दरभंगा में सीपीआई(एम) का जनाधार दलितों, अल्पसंख्यकों और अत्यन्त पिछड़ी जातियों के बीच है। पार्टी ने भूमि आंदोलन के साथ-साथ सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ भी लगातार आंदोलन चलाया है। इन आंदोलनों में हमारे दर्जनों कार्यकर्ता शहीद हुए हैं। दरभंगा के हायाघाट प्रखंड में दलितों के खिलाफ सामाजिक उत्पीड़न को प्रमुख रूप से दलित-शोषण मुक्ति मंच तथा पार्टी के माध्यम से उठाया गया है और सामाजिक भेदभाव तथा औरतों पर होनेवाले शारीरिक हमलों को एक हद तक रोकने में सफलता प्राप्त हुई है।

मधुबनी: पिछले एक वर्ष के दौरान मधुबनी में सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ कई संघर्ष हुए हैं। इनमें दलित बच्चियों के साथ हुए बलात्कार और मोगलाहा में सामंतों द्वारा मुसहरों की बस्ती को उजाड़े जाने के खिलाफ चलाए गए लम्बे संघर्ष शामिल हैं। पूरी बस्ती को फिर से सरकारी

जमीन पर बसाने और आवास के लिये आर्थिक सहायता दिलवाने में पार्टी को सफलता मिली।

नालन्दा: हिलसा प्रखंड के बाराबिगहा गाँव में सीपीआई(एम) की इकाई है। उस गाँव में कुर्मी जाति के सामंतों का वर्चस्व है। आमतौर पर गाँव में ब्याह या मृत्यु भोज के अवसर पर अत्यन्त पिछड़ी एवं दलित जातियों को सबसे अन्त में भोजन कराया जाता था। इससे अत्यन्त पिछड़ी जाति एवं दलितों में अपमान का बोध था। पार्टी ने इस प्रथा का विरोध किया। इस पर भीषण प्रतिक्रिया हुई। खूनी संघर्ष की नौबत आ गई। गोलियाँ भी चलाई गईं लेकिन अन्ततः इस प्रथा को समाप्त किया गया। ज़िले के एक अन्य गाँव में दलितों ने एक हनुमान मंदिर बनाया था और उसमें दलित समुदाय के लोग ही पुजारी थे। इस मंदिर को उच्च जाति के दबंगों द्वारा तोड़ दिया गया। पार्टी ने हस्तक्षेप कर पुनः मंदिर बनवाकर उसे दलितों के हाथों सौंप दिया।

नालन्दा में राजगीर एक पर्यटक स्थल है। वहाँ पार्टी के नेतृत्व में आधा दर्जन बस्तियाँ बसाई गई हैं, जिनमें मार्क्सवादी नगर, कोनारनगर आदि प्रमुख हैं। इन तमाम बस्तियों में राजबंशी समाज के दलित लोग बसे हुए हैं। जमीन की लड़ाई और इनके साथ होनेवाले सामाजिक भेदभाव के खिलाफ संघर्ष में एक साथी अक्लू राजबंशी शहीद हुए।

गया: गया ज़िला में पार्टी का मुख्य आधार दलितों के बीच है। वहाँ पार्टी शुरूआती दौर से ही सामंती एवं जातिगत उत्पीड़न के खिलाफ लड़ती रही है। गया के एक इलाके में ऊँची जाति के लोग मटका फोड़ने का आयोजन करते थे। इसे देखकर आस-पास के दलित नौजवानों ने भी मटका फोड़ने का कार्यक्रम रखा। उच्च जाति के लोगों ने इसका विरोध किया। पार्टी ने इस मामले में हस्तक्षेप कर दलित नौजवानों द्वारा मटका फोड़ने के आयोजन का समर्थन किया और अन्ततः उच्च जातियों का विरोध समाप्त हुआ। एक बार उच्च जातियों के इलाके से दलितों के बारात गुजरने के क्रम में बैण्ड वालों पर उच्च जाति के लोगों ने हमला कर दिया। पार्टी की ओर से प्रतिरोध आयोजित किया गया और इस मामले में सवर्णों को पीछे हटना पड़ा।

1993 का भूमि आंदोलन

सीपीआई(एम), सीपीआई एवं सीपीआई(एम-एल) लिबरेशन द्वारा 1993 में ज़मींदारों के गैर-कानूनी कब्जे की ज़मीनों को मुक्त करने के लिए भूमि मुक्ति आंदोलन चलाया गया। सीपीआई की ओर से प्रतीकात्मक रूप में कुछ जगह लाल झण्डा गाड़कर आंदोलन समाप्ति की घोषणा कर दी गई। सीपीआई(एम-एल) लिबरेशन ने भूमि के राष्ट्रीयकरण का नारा देकर इस आंदोलन से किनारा कर लिया।

सीपीआई(एम) के नेतृत्व में पूर्णिया से शुरू हुआ आंदोलन, भागलपुर, खगड़िया, बेगूसराय, समस्तीपुर, दरभंगा, मधुबनी, पूर्वी एवं पश्चिमी चम्पारण, गया, नालंदा, नवादा के विभिन्न अंचलों में फैलता चला गया। बाद में झारखण्ड में शामिल होने वाले चतरा, रांची (सोनाहाथू) आदि क्षेत्रों में भी इस संघर्ष को लड़ा गया। इस पूरे आंदोलन में 30 हजार एकड़ से अधिक ज़मीन पर कब्जा किया गया और उसे दलितों, आदिवासियों व अल्पसंख्यकों के बीच वितरित किया गया। इस आंदोलन के दौरान और बाद में वितरित ज़मीनों पर ज़मींदारों द्वारा फिर से कब्जा करने की कोशिशों के खिलाफ लड़ते हुए पार्टी व किसान सभा के 100 से अधिक कार्यकर्ता शहीद हुए हैं। अजीत सरकार एवं रामनाथ महतो जैसे बड़े किसान एवं पार्टी नेताओं की हत्या का कारण भी भूमि आंदोलन ही था। आज भी सभी ज़िलों में कब्जा की गई ज़मीन पर बेघरों एवं ग़रीबों की बस्तियाँ कायम हैं। राज्य सरकार की ओर से स्थानीय सामंतों एवं नव-सामंतों की मदद से उन्हें बेदखल करने की कार्रवाई शुरू कर दी गई है। पार्टी ने राज्य स्तरीय कन्वेंशन के बाद पूरे राज्य में बेदखली एवं भूमिहीनों के लिये आवास के सवाल पर व्यापक आंदोलन की रूपरेखा तैयार की है।

कम्युनिस्ट, भूमि सुधार और दलितों का सशक्तिकरण

हमारे समाज में वर्ग और जाति आधारित शोषण काफ़ी हद तक परस्पर व्याप्त है। ज़मीन पर स्वामित्व भी काफ़ी हद तक जाति पदक्रम से जुड़ा हुआ है। भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन ने हमेशा इस तथ्य को माना है और साथ ही इस बात को भी माना है कि व्यापक भूमि सुधार ज़मींदारी

के साथ-साथ जाति के खात्मे की अनिवार्य शर्त है। कम्युनिस्ट मानते हैं कि दलितों और आदिवासियों का आर्थिक सशक्तिकरण उनकी मुक्ति का अनिवार्य हिस्सा है। इन तबकों का अधिकतर हिस्सा भूमिहीन या गरीब किसानों का है। इनके लिए किसी भी तरह का सशक्तिकरण भूमि पर अधिकार के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कम्युनिस्ट आज़ादी के पहले से लेकर अब तक विभिन्न भूमि संघर्षों में शामिल रहे हैं। कम्युनिस्टों के नेतृत्व में बनी राज्य सरकारों ने सही मायनों में भूमि सुधार के लिए कानून बनाने और उन्हें लागू करने की ओर खास ध्यान दिया है। 1957 से 1993 के बीच केरल में भूमि सुधार के तहत 28 लाख पट्टाधारकों को ज़मीन के मालिकाना हक दिए गए और 14.82 लाख एकड़ भूमि उन्हें हस्तांतरित की गई। बड़ी संख्या में भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों को आवास के लिए ज़मीन पर मालिकाना हक मिले। 1957 से लेकर 1996 के बीच 5,28,000 परिवारों को घरों के लिए मालिकाना सर्टिफिकेट मिले।

पश्चिम बंगाल में जहां देश के कुल कृषि भूमि का महज़ 3.5 फ़ीसदी ज़मीन ही है, वहीं पूरे देश में सीलिंग से ऊपर मौजूद ज़मीन का जो वितरण हुआ है उसका 22 फ़ीसदी अकेले पश्चिम बंगाल में ही हुआ है। वाम मोर्चे के शासन के दौरान 29.84 लाख लाभार्थियों में कुल 29.85 लाख एकड़ भूमि का वितरण किया गया। हालांकि एससी-एसटी राज्य की जनसंख्या का 27 फ़ीसदी ही हैं, फिर भी लाभार्थियों में इनकी संख्या 56 फ़ीसदी है। पूरे देश में सीलिंग से ऊपर मौजूद ज़मीन के वितरण का 33.2 फ़ीसदी पश्चिम बंगाल और केरल में हुआ है। व्यावहारिक तौर पर यह सब वाम नेतृत्व की राज्य सरकारों द्वारा ही किया गया। पश्चिम बंगाल में ऑपरेशन बर्गा के तहत 15 लाख बटाईदारों को सरकारी तौर पर दर्ज किया गया और इस तरह उन्हें ज़मींदारों की बेदखली से सुरक्षित रखा गया। देश में जहां 35.52 फ़ीसदी जमीन छोटे व सीमांत किसानों के पास है, वहीं पश्चिम बंगाल में यह आंकड़ा 78 फ़ीसदी है।

त्रिपुरा में वाम मोर्चा की सरकार ने आदिवासियों से जबरन छीनी गई ज़मीन पर उन्हें दुबारा अधिकार दिलाने व भूमिहीन परिवारों में भूमि वितरण

को अपनी प्राथमिकता के तौर पर रखा। सितंबर 2005 तक आदिवासियों को ज़मीन हस्तांतरण के कुल 9000 मामले सुलझाए जा चुके थे और आदिवासी परिवारों को 7,147 एकड़ भूमि वापस की जा चुकी थी। 1997-98 से लेकर 2004-05 तक कुल 34,598 एकड़ ज़मीन 37,349 भूमिहीन परिवारों को वितरित की गई। 2012-13 से 2016-17 के बीच 3,447.91 एकड़ सरकारी ख़ास ज़मीन 25,426 भूमिहीन और बेघर परिवारों के नाम की गई।

व्यापक स्तर पर भूमि सुधार के लिए कम्युनिस्टों द्वारा उठाए गए गौरवशाली कदम महज़ वाम नेतृत्व वाली सरकारों द्वारा बनाए गए कानूनों के कारण नहीं थे। पार्टी की मदद से अखिल भारतीय किसान सभा तथा अखिल भारतीय खेतिहर मज़दूर यूनियन द्वारा लामबंदी तथा संघर्षों ने इन कदमों के लाभ भूमिहीन तथा ग़रीब किसानों तक पहुंचाने में अहम भूमिका अदा की।

दलित शोषण मुक्ति मंच

सीपीआई(एम) जाति व्यवस्था तथा इससे जुड़े उत्पीड़न के तमाम रूपों के खात्मे के लिए प्रतिबद्ध है। इन सामाजिक बुराईयों के खिलाफ़ संघर्ष को और अधिक व्यापक तथा असरदार बनाने के लिए 2014 में पार्टी ने दलित शोषण मुक्ति मंच बनाने की पहलकदमी की, जो कि एक विस्तृत अखिल भारतीय, जाति-विरोधी मंच है। दलित शोषण मुक्ति मंच विभिन्न अंबेडकरवादी संगठनों के साथ मिलकर काम करता रहा है तथा हाल के दिनों में हुई बड़ी दलित स्वाभिमान रैलियों के साथ-साथ भीमा कोरेगांव हमलों के खिलाफ़ संयुक्त प्रदर्शनों में भी इसने सक्रिय भूमिका निभाई है। वामपंथ तथा दलित संगठनों के बीच और मज़बूत एकता बनाने की काफ़ी गुंजाईश मौजूद है।

समझ में कमियां और उनका सुधार

सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ़ और दलितों के सशक्तिकरण के लिए लड़ने के इस रिकार्ड के बावजूद जाति को लेकर कम्युनिस्टों की समग्र

समझ में कमियां रहीं। इनमें से एक प्रमुख कमी इस रूझान में परिलक्षित होती रही जिसके तहत यह माना जाता रहा कि वर्ग शोषण के खिलाफ़ लड़ाई जाति उत्पीड़न के सवाल को भी हल कर देगी। पार्टी ने इन कमियों को लेकर आत्मालोचना की और ज़रूरी सुधार किए। इस तरह 2000 में पार्टी के अद्यतन कार्यक्रम का पैरा 5.12 नोट करता है कि “ जाति व्यवस्था और दलितों के उत्पीड़न के खिलाफ़ संघर्ष, मज़दूर वर्ग की एकता का पूर्वाधार है क्योंकि दलित जनता का बहुमत, मेहनती वर्गों का हिस्सा है। जाति व्यवस्था के खात्मे के लिए संघर्ष करना, जनवादी क्रांति का महत्वपूर्ण हिस्सा है। जाति उत्पीड़न के खिलाफ़ लड़ाई, वर्गीय शोषण के खिलाफ़ संघर्ष से जुड़ी हुई है।”

जनवादी आंदोलन पर जातिवाद का असर

भारतीय समाज और राजनीति में व्याप्त जातिवाद आम जनवादी आंदोलन पर भी अपना प्रतिकूल असर डालता है। जातिगत विभाजन किसानों और खेतिहर मज़दूरों के बीच काम में रूकावट पैदा करता है। इसके चलते तात्कालिक मुद्दों पर भी किसानों में वर्गीय एकता स्थापित करना मुश्किल हो जाता है। हर इलाके में प्रभावी जातियां अपनी आर्थिक ताकत, जातिगत अपील और प्रतिक्रियावादी सामाजिक रूढ़ियों का इस्तेमाल करके मेहनतकशों की वर्गीय एकता को बनने से रोकने के भरसक प्रयास करती हैं। जैसाकि बिहार जैसे राज्यों के अनुभव से पता चलता है वामपंथ के नेतृत्व में चल रहा किसान आंदोलन भी इन हथकंडों के असर से मुक्त नहीं है। इसी तरह से एकदम जातिगत आधार पर संगठित ट्रेड यूनियनों के उदाहरण भी हैं, जो वर्गीय एकता को तोड़ने का काम करते हैं।

यह बात ध्यान में रखने की ज़रूरत है कि हमारी पार्टी तथा जन संगठनों के सदस्य मौजूदा समाज से ही आते हैं और अपने साथ जाति समेत तमाम प्रतिगामी सामाजिक प्रचलनों के असर लेकर आते हैं। इसके अलावा, पार्टी या जनवादी आंदोलन का हिस्सा बनने के बाद भी उनपर प्रतिगामी विचारों व प्रथाओं के असर की संभावना बनी रहती है क्योंकि ये विचार और प्रथाएं उनके सामाजिक तथा राजनितिक परिवेश का अंग होती

हैं। यह समस्या मांग करती है कि हम सतत सचेत रहें और अपने सदस्यों को ऐसे विचारों और विचारधाराओं के घातक असर से बचाने के लिए वैचारिक संघर्ष चलाएं।

जाति पर सीपीआई(एम) का बुनियादी दृष्टिकोण

सीपीआई(एम) जाति को शोषण की मौजूदा व्यवस्था का एक मूलभूत हिस्सा मानती है। इसके साथ ही यह मानती है कि, “जाति उत्पीड़न व भेदभाव की समस्या का लंबा इतिहास है तथा उसकी जड़ें पूर्व-पूंजीवादी समाज व्यवस्था में गहरे तक धंसी हुई हैं।” (सीपीआई(एम) कार्यक्रम का पैरा 5.12) इसलिए जाति के खात्मे के लिए ज़मींदारी तथा पूर्व-पूंजीवादी उत्पादन संबंधों का उन्मूलन आवश्यक है। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए सभी मेहनतकशों की एकता, खासकर मज़दूर वर्ग, खेतिहर मज़दूरों व गरीब किसानों की एकता—जिनमें अधिकांश एससी—एसटी तबकों से आते हैं—अनिवार्य है। इस एकता को कायम करने के लिए यह ज़रूरी है कि इन तबकों को ज़मीन, वेतन, भोजन, रोज़गार, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के लिए सामूहिक संघर्षों में शामिल किया जाए। पर, यह अपने आप में पर्याप्त नहीं है। एससी/एसटी तबकों को आम जनवादी आंदोलन तथा सामाजिक बदलाव के आंदोलन में लाने के लिए जाति व्यवस्था के खात्मे के लिए लड़ना अनिवार्य है। बीच की अवधि में जाति उत्पीड़न तथा भेदभाव के ठोस मामले उठाने होंगे तथा उनके खिलाफ़ लड़ना होगा। जैसा कि पहले ही बताया गया है सीपीआई(एम) जाति व्यवस्था के खात्मे के संघर्ष को, जनता की जनवादी क्रांति को हासिल करने के संघर्ष का, अहम हिस्सा मानती है। दूसरे शब्दों में कहें तो जाति उत्पीड़न के खिलाफ़ लड़ाई वर्गीय शोषण के खिलाफ़ संघर्ष से जुड़ी हुई है।

इसी तरह सीपीआई(एम) मानती है कि पूंजीपति वर्ग द्वारा जाति को आत्मसात करने तथा उसे विभिन्न रूपों में अपने हितों के लिए इस्तेमाल करने का पर्दाफ़ाश करना व इसके खिलाफ़ लड़ना बेहद ज़रूरी है। जैसाकि पार्टी कार्यक्रम का पैरा 5.12 कहता है — “पूंजीवादी विकास के तहत समाज ने मौजूदा जाति व्यवस्था के साथ, समझौता कर लिया है।

भारतीय पूंजीपति वर्ग खुद जातिय पूर्वाग्रहों को बढ़ावा देता है।” इसलिए ज़मींदारी तथा पूर्व-पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के खात्मे भर से जाति व्यवस्था का अंत नहीं होगा। इसके लिए पूंजीवादी शोषण की व्यवस्था के खिलाफ़ दृढ़ संघर्ष तथा भारतीय राज्यसत्ता का नेतृत्व करने वाले बड़े पूंजीपति वर्ग को सत्ता से बेदख़ल करना भी ज़रूरी होगा।

सीपीआई(एम) के कार्यक्रम का अध्याय 6 उन नीतियों के बारे में है जिन्हें पार्टी जनता की जनवादी क्रांति की सफलता के बाद लागू करेगी। इसका पैरा 6.3(13) कहता है कि, “जाति द्वारा जाति के सामाजिक उत्पीड़न का खात्मा होगा और अस्पृश्यता तथा हर किस्म का सामाजिक भेदभाव, कानूनी तौर पर दंडनीय होगा। सेवाओं और अन्य शैक्षणिक सुविधाओं के मामले में अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए विशेष प्रावधान किए जाएंगे।” पहले की एकांगी समझ कि क्रांतिकारी रूपांतरण तथा समाजवाद पर आधारित नए समाज के गठन से जाति का अपने आप खात्मा हो जाएगा, गलत है। इस शैतान की जड़ें सदियों से गहरी चली आ रही हैं। इसके खात्मे के लिए जनता की जनवादी क्रांति के बाद भी निरंतर व धैर्यपूर्वक राजनीतिक—वैचारिक संघर्ष की ज़रूरत होगी, क्योंकि वस्तुगत स्थिति में बदलाव तथा मज़दूर वर्ग व अन्य मेहनतकशों द्वारा राज्य सत्ता के कब्जे भर से अतीत के वैचारिक अवशेष समाप्त नहीं हो जाते।

**इस पुस्तिका में निम्न स्रोतों से सामग्री—कई जगह ज्यों—की—त्यों
— का इस्तेमाल किया गया है।**

1. बी.टी. रणदिवे: क्लास, कास्ट एण्ड प्रॉपर्टी रिलेशंस
2. इरफ़ान हबीब: कास्ट इन इंडियन हिस्ट्री
3. प्रकाश कारात: रिट्रीव अंबेडकर्स रैडिकल विज़न (पीपल्स डेमोक्रेसी, 13-4-2016)
4. पी. सुन्दरैया: तेलंगाना पीपल्स स्ट्रगल एंड इट्स लेसन्स
5. सीपीआई (एम) का कार्यक्रम
6. फोर ईअर्स ऑफ मोदी गवर्नमेंट (सीपीआई (एम) पब्लिकेशन, जून, 2018)
7. डी.एन. झा: एंशिऐंट इंडिया
8. वीजू कृष्णन: मातृभूमि से साक्षात्कार
9. मिथस एंड फैक्ट्स अबाउट ओबीसी रिजर्वेशन (सीपीआई (एम) दिल्ली राज्य कमेटी, जून, 2006)
10. जे. बंदोपाध्याय: क्लास स्ट्रगल एंड कास्ट ऑप्शन, द मार्क्सिस्ट, जुलाई-दिसंबर, 2002
11. एस.पी. कश्यप: जाति की चुनौती, (सीपीआई(एम) दिल्ली राज्य कमेटी, 2011)
12. पी. सम्पथ: तमिलनाडु में जाति उत्पीड़न के खिलाफ सीपीआई (एम) का हस्तक्षेप, द मार्क्सिस्ट, जनवरी-मार्च, 2002
13. सुबिन डेनिस: रैनेसां वर्सज़ रिएक्शन— ए हिस्टोरिक बैटल अनफोल्ड्स इन केरला, (पीपल्स डेमोक्रेसी, 25-11-2018)

हम बी.वी. राघावुलु (आंध्र, तेलंगाना तथा रायलसीमा पर), अशोक ढवले (महाराष्ट्र पर), अरुण कुमार मिश्रा (बिहार पर), वीजू कृष्णन (कर्नाटक तथा तमिलनाडु पर) और अनियन पी.वी. (केरल पर) द्वारा दी गई बहुमूल्य जानकारी तथा सहयोग के आभारी हैं।
बृन्दा कारात का उनके रचनात्मक सुझावों के लिए विशेष धन्यवाद।